RNI No.: MPHIN/2018/77137 ISSN 2582-483X

पाठशाला भीतर और बाहर

अज़ीम प्रेमजी विश्वविद्यालय का प्रकाशन

वर्ष-3 अंक-5 अगस्त 2020
अर्धवार्षिक, भोपाल

अगस्त, 2020 (वर्ष 3, अंक 5)

प्रकाशक
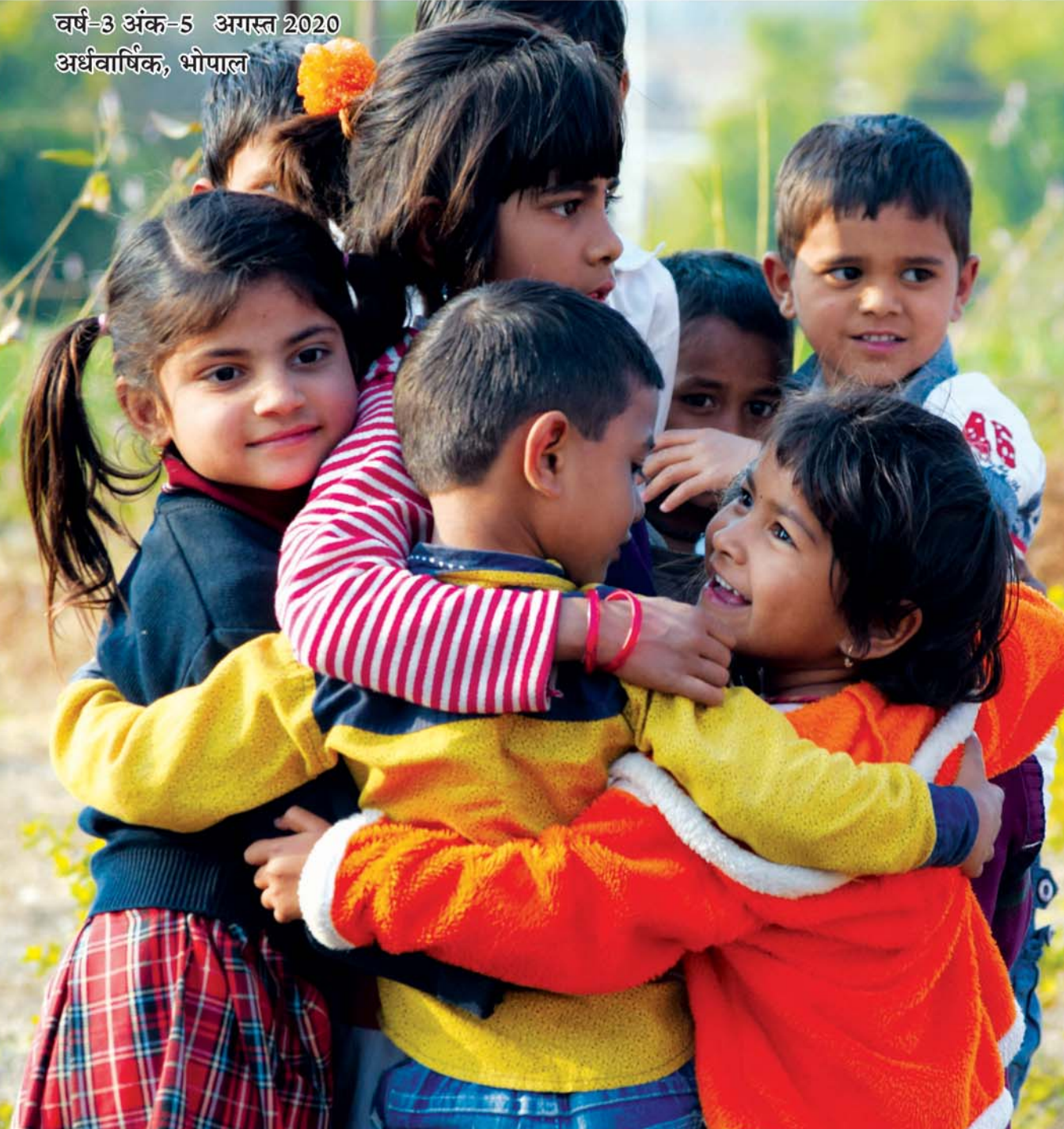
- **अज़ीम प्रेमजी विश्वविद्यालय**
  पिक्सल बी, पी.ई.एस. कैम्पस
  होसुर रोड, इलेक्ट्रॉनिक सिटी, बेंगलूरु 560100
  Web: www.azimpremjiuniversity.edu.in

सम्पादकीय कार्यालय

- **सम्पादक**
  पाठशाला भीतर और बाहर
  अज़ीम प्रेमजी फ़ाउण्डेशन
  प्लाट नं. 163-164, त्रिलंगा कोऑपरेटिव
  सोसायटी, ई-8 एक्सटेंशन, त्रिलंगा,
  भोपाल, म.प्र. 462039 फोन-0755-4074060
  pathshala@apu.edu.in
  gurbachan.singh@azimpremjifoundation.org
  मो. 8226005057

डिज़ाइन एवं प्रिंट

- **गणेश ग्राफिक्स,**
  26-बी, देशबंधु परिसर,
  प्रेस काम्प्लेक्स,
  एम.पी.नगर, जोन-1
  भोपाल, म.प्र. 462011
  ganeshgroupbpl@gmail.com
  मो. 9981984888

पाठशाला भीतर और बाहर पत्रिका, अज़ीम प्रेमजी फ़ाउण्डेशन का हिन्दी प्रकाशन है। यह शिक्षकों, शिक्षक प्रशिक्षकों, अन्य ज़मीनी कार्यकर्ताओं व शिक्षा से सरोकार रखने वाले सभी व्यक्तियों और संस्थाओं के लिए विचार-विमर्श का एक मंच है। पत्रिका का उद्देश्य शिक्षा के क्षेत्र में कार्यरत व्यक्तियों के अनुभवों व आवाज़ को जगह देकर शिक्षा के विमर्श को गहन व यथार्थपरक बनाना है।

अनुक्रम

पत्रिका में छपे लेखों में व्यक्त विचार और मत लेखकों के अपने हैं।
अज़ीम प्रेमजी फ़ाउण्डेशन या अज़ीम प्रेमजी विश्वविद्यालय का उनसे सहमत होना आवश्यक नहीं है।

सम्पादकीय

मौजूदा हालात से हम सभी वाक़िफ़ हैं। अभी पूरी दुनिया पर एक ही चीज़ काफ़ी हावी है, और वह है कोरोनावायरस। इसकी वजह से पूरे विश्व में काफ़ी तरह के बदलाव आए हैं। इन बदलावों के अनुभव अलग-अलग लोगों के लिए अलग-अलग हैं। कुछ लोग ज़्यादा काम कर पा रहे हैं, पर बहुत-से लोगों की नौकरियाँ चली गई हैं, दिहाड़ी मज़दूरों का काम छूट गया, कुछ लोग घर में कुछ करने की इच्छा के चलते तरह-तरह के व्यंजन बना रहे हैं तो कुछ लोगों के लिए एक वक़्त की रोटी मिलना भी बहुत मुश्किल हो गया है। बाज़ार कभी बन्द तो कभी खुले हैं। हालाँकि सब कुछ पूरी तरह सामान्य कब हो पाएगा इस बारे में निश्चित तौर पर कुछ कहा नहीं जा सकता, पर धीरे-धीरे काम शुरू होने लगे हैं।

नई शिक्षा नीति भी इस दौरान जारी कर दी गई और उसपर विमर्श भी शुरू हो गया है। हालाँकि सभी शिक्षण संस्थान अभी भी पूरी तरह से बन्द हैं, लेकिन बच्चों की शिक्षा को जारी रखने की दिशा में सरकारी और ग़ैर-सरकारी, दोनों क्षेत्र के द्वारा विभिन्न तरह के प्रयास किए जा रहे हैं और कई प्रयास क़ाबिले तारीफ़ भी हैं। यानी वैकल्पिक तरीक़ों से ही सही, पर शिक्षा और शिक्षा के बारे में विमर्श जारी है। इस दौर में बहुत-सी पुरानी बहसें फिर से एक नए आयाम के साथ शुरू हुई हैं जैसे– तकनीकी, शिक्षा में किस हद तक मददगार हो सकती है, क्या ऑनलाइन शिक्षा में बच्चे वह सब कुछ सीख सकते हैं जो बच्चे स्कूल में, शिक्षक और अन्य बच्चों के साथ मिलकर सीखते हैं? परीक्षाओं को कैसे देखा जाए, बच्चों की शिक्षा में अभिभावकों की, समुदाय की, क्या भूमिका हो आदि।

पाठशाला भीतर और बाहर के इस अंक में इस मौजूदा दौर के मुद्दों से सम्बन्धित कुछ लेख हैं और साथ ही बहुत-से अन्य लेख भी। भोलेश्वर दुबे का लेख ***दुनिया को दहलाता एक अदृश्य जैविक कण*** वायरस के बारे में विस्तार से बात करता है। लेख बताता है कि वायरस कैसे होते हैं? क्या ये सजीव होते हैं अथवा निर्जीव? ये किसके बने होते हैं और फिर यह नोवेल कोरोनावायरस क्या है? इसकी रचना कैसी है? यह शरीर में कैसे प्रवेश करता है और कैसे बढ़ता है? हालाँकि यह सब समझना आसान नहीं है लेकिन फिर भी लेख से वायरस और वायरसजनित रोगों के बारे में समझने में काफ़ी मदद मिलती है।

शचीन्द्र आर्य अपने लेख में ऑनलाइन शिक्षण के बारे में बात करते हैं। वे बताते हैं कि इस दौर में विद्यालय अनिश्चित काल के लिए बन्द कर दिए गए हैं, और आज 'ऑनलाइन शिक्षण' एक विकल्प के रूप में उभर रहा है। वे लेख में ऑनलाइन शिक्षण के सन्दर्भ में कक्षा, शिक्षण विधि, अध्यापक की भूमिका, अध्यापक और विद्यार्थी के बीच बन रहे सम्बन्ध और उनके बीच हो रही अन्तर्क्रिया, आदि बिन्दुओं को टटोलते हैं।

शिक्षणशास्त्र और कक्षा अनुभव हिस्से में इस बार कुल पाँच लेख शामिल हैं। सुरभि अपने लेख में सीखने-सिखाने में थिएटर की भूमिका पर चर्चा करती हैं। वे कहती हैं कि किसी भी अवधारणा या पाठ को नाटक के रूप में प्रस्तुत करना थिएटर इन एजुकेशन नहीं है। लेख के पहले हिस्से में वे थिएटर इन एजुकेशन क्या है और क्या नहीं है, इसपर बात करती हैं। और आगे वे कक्षा में बच्चों के साथ एक कहानी पर किए गए काम के अनुभव का वर्णन और व्याख्या करते हुए थिएटर इन एजुकेशन से उनका क्या तात्पर्य है, इसका ठोस अनुभव प्रस्तुत करती हैं और यह भी इंगित करती हैं कि यह सीखने-सिखाने की अपार सम्भावनाओं को खोलता है।

मदन मोहन पाण्डेय का लेख भाषा के कौशल 'लिखना', उसे सीखने की मुश्किलों, उनके कारणों और मुश्किलें कम करने पर केन्द्रित है। लेखक कहते हैं कि लिखना बच्चों के लिए उतना

कठिन है नहीं जितना सीखने के रूढ़ नज़रियों और तरीक़ों (जिसमें पढ़ना भी शामिल है) के कारण यह बन जाता है। वे कहते हैं कि बच्चों को लिखना सिखाने के सन्दर्भ में भाषा सीखने की प्रकृति, लिखने के दौरान कैसी मानसिक हलचल होती है, अशुद्धियों को देखने का नज़रिया क्या हो, सुलेख, बच्चों को सीखने के लिए पर्याप्त समय देना और जल्दबाज़ी न करना, आदि सभी को समझना होगा।

कक्षा में सीखने-सिखाने के अपने अनुभवों को प्रस्तुत करते हुए तीन लेख हैं। शिक्षिका मोनिका भण्डारी ने बच्चों के साथ शैक्षिक भ्रमण के अपने अनुभवों को सहजता से प्रस्तुत किया है। वे भ्रमण की तैयारी के अपने अनुभव के बारे में बताती हैं। बच्चों ने उनकी किस प्रकार मदद की, किस तरह उन्होंने समूह बनाए, समूहों को क्या-क्या काम दिया और यह उनके लिए, बच्चों के लिए और उनके अन्य शिक्षक साथियों के लिए किस प्रकार से एक अर्थपूर्ण सीखने का अनुभव बना।

इति शर्मा अपने लेख में भाषा की गतिविधियों के बारे में बात करती हैं— वे गतिविधियाँ जो उन्होंने बच्चों के साथ कीं। वे इस अनुभव की विस्तार से बात करते हुए इंगित करती हैं कि उनके अनुसार बच्चों के लिए अर्थपूर्ण गतिविधि का मतलब क्या है और उसमें सीखना किस तरह होता है और किस तरह सीखने का दायरा भी बढ़ता है। वे अपने द्वारा भाषा की कक्षा में की गई गतिविधियों का विवरण देती हैं और उनमें से कुछ गतिविधियों के बारे में विस्तार से बात करती हैं।

मुकेश मालवीय का लेख बच्चों में मौजूद संवेदनाओं को और भावनाओं को स्कूल कैसे पोषित करे, इस सन्दर्भ में अपने व साथी शिक्षकों के कुछ अनुभवों को प्रस्तुत करता है। इन अनुभवों के ज़रिए लेखक बताते हैं कि कैसे एक शिक्षक एक कक्षा में सीखने-सिखाने का काम करते हुए बच्चों में परस्पर सम्मान, हमदर्दी और सह-अस्तित्व जैसी भावनाओं को पोषित कर सकते हैं।

मणीश कुमार ठाकुर अपने लेख में एक शिक्षा संस्थान को नेतृत्व देने वाले प्रिंसिपल के व्यक्तित्व की बात करते हुए, शैक्षिक संस्थान के उद्देश्य, समुदाय की भूमिका, नेतृत्वकर्ता की व्यक्तिगत मान्यताएँ बनाम सांस्थानिक भूमिका जैसे पहलुओं को रखते हैं। लेख बड़ी ही बारीक़ी और गूढ़ता से इन पहलुओं को प्रस्तुत करता है।

बच्चे कैसे-कैसे सवाल पूछते हैं, इसपर केन्द्रित है कालू राम शर्मा का लेख। बच्चों द्वारा कैसे सवाल पूछे जाते हैं उसकी वे एक फ़ेहरिस्त प्रस्तुत करते हैं और उनमें से कुछ सवालों के जवाब प्रस्तुत करते हुए वे कई विचारणीय बिन्दु रखते हैं। वे जो मुद्दे उठाते हैं उनमें से कुछ हैं— बच्चों के प्रश्नों को तवज्जो नहीं दिया जाना, प्रश्नों का उत्तर कैसे दें, यह किस-किस तरह की तैयारी की माँग करता है, बच्चों के सवाल हमें बच्चों के बारे में उनके सोचने की प्रक्रिया के बारे में क्या बताते हैं, आदि।

अमित कोहली अपने आलेख में शिक्षकों द्वारा अपने ख़ुद के अनुभवों को लिखना उनके अपने लिए और साथी शिक्षकों के लिए कितना महत्त्वपूर्ण हो सकता है और क्यों, इसके बारे में बात करते हैं। लेख में आगे वे कहते हैं कि शिक्षक अलग-अलग तरह से अपने अनुभवों को लिख सकते हैं। एक तरीक़ा वर्णनात्मक हो सकता है, जिसमें कक्षा में किसी अवधारणा को सिखाने का विस्तृत ब्योरा हो। एक अन्य तरीक़ा मननात्मक हो सकता है जिसमें शिक्षक अपने अनुभव की परतों को खोले और उनपर प्रश्न भी करे और एक अन्य तरीक़ा समस्या चिह्नांकन भी हो सकता है जिसमें किसी अवधारणा को समझने में विद्यार्थियों को आई कठिनाइयों के बारे में विस्तार से बातचीत हो।

दो लेख ऐसे हैं जिनका पहला हिस्सा पाठकों ने चौथे अंक में पढ़ा होगा। इस अंक में हमने आगे के हिस्से को प्रकाशित किया है। इनमें एक है अभय कुमार दुबे का लेख ***मैकॉले बनाम भारतीय ज्ञान-प्रणालियाँ और शिक्षा-व्यवस्था।*** पहले हिस्से में मैकॉले की पृष्ठभूमि, कलम लगाने की नीति और मैकॉले के मिनट्स की विभिन्न दावेदारियों की समीक्षा और अँग्रेज़ों के पहले भारत में ज्ञान

विज्ञान और कला संस्कृति की चर्चा आपने पढ़ी होगी। इस दूसरे हिस्से में औपनिवेशिक काल से पहले मौजूद पारम्परिक शिक्षा प्रणाली पर काफ़ी विस्तार से बातचीत है। हिन्दुस्तान के विभिन्न हिस्सों में किस तरह के स्कूल थे, उन स्कूलों में कौन पढ़ता था, अध्यापक कौन थे, कहाँ से आते थे, स्कूल चलाने की ज़िम्मेदारी किसकी थी? स्कूल का और अध्यापक का ख़र्चा कौन उठाता था, स्कूलों में किस तरह का अध्यापन होता था? लेख इन सभी पर काफ़ी विस्तार से व प्रमाणों के साथ बात करता है।

पत्रिका की संवाद श्रृंखला में ***परीक्षा और शिक्षा : एक विचार अनेक पहलू*** का दूसरा हिस्सा प्रस्तुत है। पत्रिका के चौथे अंक में प्रकाशित पहले भाग में परीक्षा को लेकर प्रतिभागियों के निजी अनुभव, और समय के साथ इस पद्धति में आए बदलाव से जुड़े नज़रिए, समाज में बच्चों के प्रति दृष्टिकोण, सरकारी तंत्र में शिक्षकों की स्थिति व सोच और परीक्षा का स्वरूप व वैकल्पिक परिकल्पनाओं से जुड़ी बातचीत थी। और इस दूसरे और शेष भाग में 'परीक्षा और शिक्षा' के मसलों मुख्यतः ओपन बुक परीक्षा, पास-फ़ेल की नीति और प्रयोगधर्मी स्कूलों से जुड़ी बातचीत है।

निधि गुलाटी ने युवा शिक्षक मिहिर का साक्षात्कार किया है। साक्षात्कार में मिहिर ने शिक्षा के क्षेत्र में काम क्यों व कैसे शुरू किया, कैसे अपने लिए रास्ता बनाया, कैसे नई चीज़ों को सीखा, बच्चों के लिए व उनके साथ किस-किस तरह का काम किया, और वे शिक्षा को क्या समझते हैं, कैसे देखते हैं, इस सबके बारे में विस्तार से बातचीत है।

अनिल सिंह ने सोपान जोशी की किताब ***जल थल मल*** पर चर्चा की है। वे बताते हैं कि किताब बहुत ही सहज और कन्विन्सिंग भाषा में जल, थल और मल के आपसी जुड़ाव और ये एक दूसरे पर क्या असर डालते हैं और डाल रहे हैं, इस सन्दर्भ में जानकारी उदाहरण और तर्क के साथ प्रस्तुत करती है। किताब मनुष्य जाति को चेताती है कि यदि हमने इस रिश्ते को नहीं समझा तो हम ख़ुद ही अपने विनाश के ज़िम्मेदार हो सकते हैं।

इस अंक से आपको ***पाठशाला भीतर और बाहर*** के स्वरूप में कुछ बदलाव महसूस होगा। जैसा कि हमने पहले भी कहा है इस पत्रिका का एक मुख्य उद्‌देश्य शिक्षा में ज़मीनी स्तर पर काम कर रहे व्यक्तियों के अनुभवों को जगह देना है और इसी वजह से हमने तय किया है कि ज़्यादा-से-ज़्यादा लेख ऐसे शामिल किए जाएँ जो कक्षा, स्कूल और ज़मीनी स्तर पर हो रहे कामों पर आधारित हों। आपसे आग्रह है कि आप भी हमें ऐसे लेख भेजें। साथ ही पत्रिका के इस अंक पर हमें अपनी प्रतिक्रिया भी भेजें।

सम्पादक मण्डल

बच्चों के सवाल हल्के में मत लीजिए!

कालू राम शर्मा

चित्र : शिवेंद्र

बच्चे सवाल पूछते हैं। स्कूल, घर या जहाँ भी मौक़ा मिले। जहाँ उन्हें अभिव्यक्ति के मौक़े मिलते हैं वे अपने दिल की बात करते रहते हैं। इन बातों में सवाल भी समाए होते हैं। असल में चाहे वयस्क हों या बच्चे, हर किसी के दिमाग़ में सवाल उठते ही हैं। सवाल करना अमूमन हमारी जिज्ञासा का ही परिणाम होता है। सवालों के आधार पर पूछने वाले के सामाजिक परिवेश, मनोवृत्ति व सोचने के ढंग के बारे में बहुत-कुछ समझा जा सकता है।

आमतौर पर वयस्कों व बच्चों की सोच में फ़र्क़ होता है। वयस्कों के, जिसमें शिक्षक भी शामिल होते हैं, सवाल आमतौर पर विषयों के खाँचे में बँटे होते हैं जबकि बच्चों के सवाल समग्रता लिए हुए व मौलिक होते हैं। जो सवाल बच्चा पूछता है वह उस घटना को समझने की एक कोशिश है।

असल बात यह कि पूछे गए सवाल का जवाब क्या व कैसे दिया जाए। जवाब अगर पारिभाषिक शब्दावली से भरा हो तो सरसरी तौर पर भले ही लगे कि बढ़िया व सटीक जवाब है, मगर पूछने वाले की समझ अधूरी रहने की पूरी सम्भावना है। दरअसल, सवाल तो किसी चीज़ या घटना को जानने-समझने के लिए किया जाता है। इसलिए जवाब जितना पारिभाषिक व तकनीकी शब्दावलियों से दूर होगा, उतना ही वह सरल व समझ में आने लायक़ होगा। बच्चों के मामले में ख़ासतौर पर कहा जाता है कि 'जवाब सरल होना चाहिए'। असल में सरलता का मामला केवल बच्चों तक ही सीमित क्यों हो! यह तो हर स्तर पर और हर मसले में सुनिश्चित किया जाना चाहिए। सरलता को दूसरे शब्दों में 'समझना' कहना ग़लत न होगा। एक ऐसा जवाब जो समझ का विस्तार लिए हुए और परतों को खोलता हुआ हो।

जिज्ञासा किसी विषय से बँधी हुई चीज़ नहीं है। वह किसी पाठ्यक्रम की मोहताज़ भी नहीं। बल्कि पाठ्यक्रम इस तरह से हो सकता है जो जिज्ञासा को जन्म दे व जिज्ञासा को शान्त करने की बजाय उसे प्रज्ज्वलित करे। असल में बच्चों के सहज सवाल पाठ्यपुस्तकों के सवालों से फ़र्क़ होते हैं। यहाँ बच्चों के कुछ सवाल हैं जो वाक़ई उनके अवलोकनों की उपज हैं। नमूने के तौर पर यहाँ कुछ सवाल दिए गए हैं जो अकसर बच्चे कौतूहलवश पूछते हैं।

गाय-भैंस बागोलते क्यों हैं?

रोटी क्यों फूलती है?

चिड़िया धूल में क्यों नहाती है?

गाय का खुर दो भागों में बँटा होता है। घोड़े का एक ही होता है। क्यों?

आम की नई पत्तियाँ लाल रंग की क्यों होती हैं?

पहले मुर्ग़ी आई या अण्डा?

पत्ती की निचली सतह फीके हरे रंग की होती है जबकि ऊपरी सतह गहरे हरे रंग की। क्यों?

बच्चा पेट में कैसे आ जाता है?

सवालों की फ़ेहरिस्त और भी लम्बी है। दरअसल, ये सवाल ग्रामीण परिवेश के बच्चे सवालीराम से करते थे। बच्चे पोस्टकार्ड पर अपना सवाल लिखकर भेजते थे। उधर से सवालीराम द्वारा बच्चों को जवाब लिखकर डाक से भेज दिया जाता था। सवालीराम के बारे में कुछ लोग शायद अभी भी ज़रूर जानते होंगे। मध्यप्रदेश में होशंगाबाद विज्ञान शिक्षण कार्यक्रम की कहानी का एक आयाम सवालीराम था। मध्यप्रदेश के चुने गए सरकारी स्कूलों में चलाए गए इस कार्यक्रम के तहत बच्चों में सवाल करने की संस्कृति को बढ़ावा देने का एक प्रयास था। बच्चे सवाल तो पूछें ही, लेकिन सवालों के जवाब देने की व्यवस्था भी की गई थी।

सवालीराम कोई एक व्यक्ति नहीं था बल्कि कुछ लोगों का समूह था। यह समूह व्यापक था जिसमें होशंगाबाद विज्ञान से जुड़े हुए लोग होते थे। इन लोगों में महाविद्यालय, विश्वविद्यालय, आईआईटी इत्यादि के विशेषज्ञ होते थे। यह दिलचस्प है कि सवालीराम को टीआईएफ़आर (टाटा इंस्टीट्यूट ऑफ़ फ़ण्डामेंटल रिसर्च), टीसीआईएस (सेंटर फ़ॉर इंटरडिसिप्लीनरी साइंसेस) व एकलव्य मध्यप्रदेश ने फिर से प्रारम्भ किया है। अब इसे आज की ज़रूरतों के अनुसार ढालने की कोशिश है। सवालीराम से स्कूल के विद्यार्थियों द्वारा पूछे गए सवालों को ऑनलाइन एकत्र किया जाता है। अब ऐसे सवालों को भारतभर से एकत्र किया जा रहा है और उनके जवाब विशेषज्ञों द्वारा दिए जाने की व्यवस्था की जा रही है। इसका मक़सद विद्यार्थियों की जिज्ञासा को बढ़ावा देना और सीखने-समझने में उनकी दिलचस्पी जगाना है।

होशंगाबाद विज्ञान शिक्षण कार्यक्रम में पर्यावरण से सीखने पर काफ़ी ज़ोर दिया गया था। खोज व पर्यावरण-आधारित इस कार्यक्रम में बच्चे अपने परिवेश से अन्तःक्रिया करके सीखते थे। इसलिए यह स्वाभाविक ही था कि बच्चे सवाल पूछेंगे। बच्चों के सवालों को ऐसे ही नहीं छोड़ा जा सकता। इसके लिए 'सवालीराम' की कल्पना की गई थी। चूँकि बच्चों के सवाल

चित्र : शिवेंद्र

उनकी पाठ्यपुस्तकीय शिक्षा से जुदा होते थे इसलिए उन्हें पाठ्यक्रम के बाहर का कहकर अवैध नहीं माना जा सकता। दूसरी बात यह कि बच्चों के सवालों को हल्के में नहीं लिया जा सकता। बच्चों के सवालों के जवाब तैयार करने में इस बात का ख़्याल रखना होता ही था कि जो कहा जा रहा है उसे पढ़कर उनका प्रतिप्रश्न क्या होगा। इसलिए केवल सपाट जवाब लिख भर देने से बात नहीं बनती थी। सवाल को हर तरह से टटोलकर देखना होता था।

बच्चों के सवाल सचमुच उनके अवलोकन व अनुभवों से जुड़े होते थे। अगर बच्चों के सवालों पर ग़ौर किया जाए तो स्कूली पाठ्यक्रम की रूपरेखा को डिज़ाइन करने में ये सवाल काफ़ी मदद कर सकते हैं।

लिहाज़ा, यहाँ बच्चों की जिज्ञासा व उत्सुकता को महिमामण्डित किए बिना सवालों पर ग़ौर फ़र्माएँ तो विषय विशेषज्ञों को जवाब बनाने में ख़ासी जद्दोजहद करनी होती थी। लिहाज़ा, मैं शुरुआत इसी सवाल से करता हूँ।

मैं उपरोक्त सवालों में से कुछेक की बात करूँगा कि बच्चों के सवालों के जवाब बनाने में किस तरह जूझना होता है। बावजूद इसके पूरी सम्भावना बनी रहे कि वह जवाब कई पहलुओं को न समेट पाए।

गाय–भैंस बागोलते क्यों हैं ?

सवाल पूछने वाला बच्चा ग्रामीण है। इसलिए वह अपनी ही भाषा में सवाल पूछेगा। इसलिए पहले तो यह स्पष्ट कर दूँ कि 'बागोलना' का अर्थ 'जुगाली' करने से है।

इस सवाल का संक्षिप्त जवाब यह हो सकता है– "गाय के आमाशय में एक ख़ास व्यवस्था होती है जिसमें जाकर भोजन इकट्ठा हो जाता है। गाय का आमाशय पाँच कक्षों में बँटा होता है। जब वह कहीं बैठकर आराम फ़र्माती है तो आमाशय में पहुँचा भोजन फिर से मुँह में आता है जहाँ उसमें लार मिलाकर चबाया जाता है।" यह जवाब पाठ्यपुस्तकीय ढाँचे से काफ़ी मिलता-जुलता है। बच्चों को एक स्तर का जवाब तो मिल जाता है, लेकिन वैचारिक स्तर पर और अधिक परतों को खोलने की कोशिश प्रतीत नहीं होती।

अगर इस सवाल की गहराई में जाएँ तो सवाल यह उठता है कि आख़िर जुगाली करने की प्रक्रिया शुरू ही क्यों हुई होगी? भला सभी घास खाने वाले जानवर तो जुगाली नहीं करते। तो समझ में आया कि इसमें उद्विकास के आयाम को जोड़ा जाए तो बच्चों को एक अलग नज़रिया सोचने-समझने को मिल सकेगा।

वास्तव में गाय, भैंस इत्यादि का भोजन सेल्यूलोज़ है। ये घास, पत्तियाँ, तने इत्यादि खाते हैं। ये ऐसे जानवर हैं जो सेल्यूलोज़ को पचाने की क्षमता रखते हैं। इंसानों में सेल्यूलोज़ पचाने की क्षमता नहीं होती। इंसानों में ही क्यों, बहुत सारे शाकाहारी जन्तुओं में सेल्यूलोज़ को पचाने की क्षमता नहीं होती। दरअसल, गाय, भैंस इत्यादि जुगाली करने वाले जन्तुओं में सेल्यूलोज़ को पचाने वाला पाचक रस 'सेल्यूलेस' नहीं बनता। सेल्यूलोज़ को पचाने वाले पाचक रस इनके पाचन तंत्र में पाए जाने वाले सूक्ष्मजीवी बैक्टीरिया व प्रोटोजोआ बनाते हैं।

यह दिलचस्प है कि अगर गाय घास खाती है तो सेल्यूलोज़ को पचाने वाला पाचक रस उसकी आहारनाल में नहीं बनता, बल्कि आँत में रह रहे सूक्ष्मजीव उसे बनाते हैं। यह एक सहभोजिता (सिम्बायोसिस) का उदाहरण है। ऐसे उदाहरण हमारे आसपास और भी दिखाई देते हैं। मसलन दीमक लकड़ी पर ही ज़िन्दा रहती है जो मुख्यतः सेल्यूलोज़ का स्रोत है। दीमक के पाचन तंत्र में सेल्यूलेस नामक पाचक रस को बनाने वाले सूक्ष्मजीव होते हैं। ऐसा ही पुरानी किताबों की जिल्द के सिले हुए हिस्से में रहने वाली सिल्वरफ़िश के पाचन तंत्र में भी होता है। कुल मिलाकर बहुकोशिकीय जीवों में सेल्यूलोज़ को पचाने वाले पाचक रस के लिए उन्हें आहारनाल में पाए जाने वाले सूक्ष्मजीवों पर आश्रित रहना होता है।

दरअसल, गाय, भैंस, हिरण जैसे मवेशियों के उद्विकास पर नज़र डालें तो कुछ और भी

क़यास हाथ लगते हैं। ये शाकाहारी जीव हैं और इनपर शिकार करने वाले माँसाहारी जीवों का ख़तरा हमेशा मण्डराता रहा होगा। इनकी समस्या यह भी रही होगी कि ये माँसाहारी जीवों की बनिस्बत बहुत तेज़ी से भागने में सक्षम नहीं रहे होंगे। इसकी वजह है इनके शरीर का भारी होना व पाँव की बनावट। अगर आप गाय, भैंस के पैरों को देखें तो इनके खुर (hoofs) दो भागों में बँटे होते हैं जो उन्हें दौड़ने में बाधक बनते हैं। ऐसी स्थिति में उनके लिए माँसाहारी जीवों से बचकर जल्दी-जल्दी घास को चरना व किसी सुरक्षित जगह पर जाकर छिपना ज़रूरी था। तेज़ न दौड़ पाने वाले वे ही मवेशी बच पाए जो उन हालात में बच सके।

इस तरह इन जानवरों में आमाशय का विकास इस तरह से हुआ कि वे जल्दी-जल्दी घास को चरकर आमाशय में एकत्र कर सकें। फिर सुरक्षित जगह पर बैठकर ये उस आमाशय में एकत्र किए गए भोजन को वापस मुँह में लाकर चबाते हैं। इस दौरान आमाशय से मुँह में आए भोजन में लार मिलती है व उसे अपनी मज़बूत दाढ़ों से ख़ूब चबाकर बारीक़ करते रहते हैं। इसे बागोलना या जुगाली कहा जाता है। चबाया हुआ भोजन आमाशय के अगले कक्षों में जाता है जहाँ सेल्यूलोज़ को पचाने वाला पाचक रस सूक्ष्मजीव स्रावित करते हैं।

इसके ठीक विपरीत घोड़ा फ़ुर्तीला होता है व ख़तरे का आभास होने पर वह तेज़ी से अपनी रक्षा के लिए भाग सकता था। इसलिए घोड़े के आमाशय का विकास गाय, भैंस की तरह नहीं हुआ।

यह प्रक्रिया इन जन्तुओं के क्रमिक विकास से जुड़ी हुई है जिसमें प्राकृतिक संरक्षण (जिसे हम प्राकृतिक चयन भी कहते हैं) की अहम भूमिका है।

अब देखिए। एक और आयाम तब आया जब बच्चों से इस मामले में बातचीत की जा रही थी। ख़रगोश तो घास पर ही निर्भर रहता है। ये जुगाली नहीं करते। तो फिर इनमें घास का पाचन कैसे होता होगा? इस मसले पर बच्चों के साथ बातचीत का सार कुछ इस प्रकार है।

चित्र : शिवेंद्र

दरअसल, ख़रगोश में एक बहुत दिलचस्प व्यवस्था है। चूँकि ये घास खाते हैं और जुगाली नहीं करते। तो इस समस्या का हल ख़रगोश में कुछ और तरह से देखने को मिलता है। ख़रगोश अपनी विष्ठा को खाते हैं। यह उन लोगों का अवलोकन भी है जो ख़रगोश को पालते हैं। गाय की जुगाली से शुरू हुए विमर्श की यह एक और परत है। गाय में सूक्ष्मजीवों का वास आहारनाल में होता है मगर ख़रगोश, चूहों व अन्य रोडेंट में ये सूक्ष्मजीव उसकी आहारनाल के अन्तिम हिस्से अन्धनाल (cecum) में रहते हैं। ये सूक्ष्मजीव अन्धनाल में सेल्यूलोज़ को पचाते हैं। लेकिन चूँकि यहाँ सेल्यूलोज़ का पूरी तरह से अवशोषण नहीं हो पाता इसलिए यह पचा हुआ सेल्यूलोज़ मल के रूप में निकल जाता है। इस प्रकार ये अपने मल को फिर से खाते हैं ताकि आहारनाल में पचे हुए सेल्यूलोज़ का अवशोषण हो पाए। इसे मलभक्षण (coprophagy) के नाम से जाना जाता है।

कुल मिलाकर विमर्श का प्रारम्भ गाय की जुगाली से होकर ख़रगोश के मलभक्षण तक जा सकता है। और यह विमर्श यहाँ भी थमने वाला नहीं है और भी आयाम जुड़ सकते हैं। यह विमर्श गाय की जुगाली को लेकर अवलोकन से प्रारम्भ हुआ था। यह उस कौतूहल की एक चिंगारी थी जिसने कौतूहल को ख़त्म नहीं किया बल्कि इस मामले को व्यापक बना दिया।

परतें और भी हो सकती हैं

कुल मिलाकर इस मामूली-से समझे जाने वाले सवाल के जवाब में कई सारे पेंच हैं जिन्हें एक जवाब देने वाले को समझना होता है। हालाँकि यह अभी भी नहीं कहा जा सकता कि उपरोक्त आधारों पर तैयार किया गया जवाब परिपूर्ण होगा। शायद इसमें और आयाम भी जुड़ें। मसलन, कि यह प्रक्रिया अन्य जानवरों में होती है या नहीं? घास खाने वाले कौन-से जानवर जुगाली करते हैं और कौन नहीं? जानवरों के अवलोकन करने का कार्य बच्चों को दिया जा सकता है।

पत्तियों का अवलोकन व इससे उपजे सवाल

जब मैं बच्चों के साथ पेड़-पौधों पर काम कर रहा था तो उनके एक सवाल ने मुझे झकझोर दिया। बच्चों का अवलोकन था कि पत्ती की ऊपरी सतह अधिक हरी होती है बनिस्बत नीचे की। उनका सवाल था कि पत्ती की नीचे वाली सतह फीकी होती है।

पहले तो बच्चों के उस सवाल को टटोलने की कोशिश की गई कि क्या वाक़ई ऐसा है। कई सारे पेड़-पौधों की पत्तियों को देखा-परखा। जिन भी पेड़-पौधों को हमने देखा उनकी पत्तियों की ऊपरी सतह अधिक हरी जबकि निचली सतह कम हरी थी, जिसे बच्चों के शब्दों में 'फीका' होना कहा जाता है। यह फ़र्क़ स्पष्टतौर पर हमारी आँखें कर पा रही थीं।

अब इसका जवाब बनाने का वक़्त था। इस सवाल का एक जवाब तो सीधे-से जुड़ा है कि पत्तियों में हरा रंग होता है। पत्तियों की निचली सतह में कम हरापन होता है। यह अवलोकन मेरा भी था। तब मैं इतना समझता था कि हाँ, ऊपरी सतह में क्लोरोफ़िल अधिक होता है और निचली सतह में कम। मैंने अपने-आप को इतने-से जवाब से सन्तुष्ट कर लिया था।

जब बच्चों की ओर से यह सवाल आया तो एक बार फिर से इस सवाल ने सोचने को बाध्य किया। जिन बच्चों के साथ काम किया जा रहा था वे मिडिल स्कूल के थे। उन्हें यह बताया गया कि पत्तियों में हरापन क्लोरोफ़िल नामक पदार्थ की वजह से होता है। अब इस एक मामूली-से समझे जाने वाले सवाल में से कई सारे सवाल जन्म ले रहे थे। यह भी कि क्लोरोफ़िल क्या होता है? इसका क्या काम है? यह कहनेभर से बात नहीं बनती कि क्लोरोफ़िल प्रकाश-संश्लेषण में अहम भूमिका अदा करता है। तो प्रकाश-संश्लेषण की परिभाषा बता भर देने से भी बात नहीं बनती। आप केवल जानकारी दे दें कि यह किस हद तक सम्भव है?

अगले ही क़दम पर आपको क्लोरोफ़िल की प्रकाश-संश्लेषण में भूमिका को समझना होगा। समझने का यह आयाम प्रयोग से सम्भव है। केवल जानकारी देनेभर से बात नहीं बनने वाली। लिहाज़ा, बच्चों को तब यह बताया जा सका कि पौधे सूरज की रोशनी में इस हरे रंग की मौजूदगी में भोजन का निर्माण करते हैं। जिस भोजन की बात की जा रही है वह 'हमारे भोजन बनाने' की बात से जुदा है। दरअसल, पत्तियों में कार्बन डाईऑक्साइड व पानी से ग्लूकोज़, स्टार्च व अन्य जटिल चीज़ें बनती हैं। कुछ उदाहरण देकर समझाने की कोशिश की गई।

बच्चों को यह सोचने की ओर ले जाया गया कि हम सभी को भोजन पेड़-पौधों से ही मिलता है। ज़रा नज़र दौड़ाएँ। बकरी, गाय, हिरण, कीट-पतंगे, इत्यादि। यह फ़ेहरिस्त काफ़ी लम्बी हो सकती है। लेकिन जल्द ही बच्चों ने पूछा कि शेर तो हिरण को खाता है। बच्चों के सोचने को प्रेरित किया गया कि शेर हिरण को शिकार तो

बनाता है लेकिन हिरण का भोजन तो पेड़-पौधे ही हैं। चाहे आप साँप की बात करें तो वह चूहों, गिलहरियों, कीड़े-मकोड़ों इत्यादि को खाता है। तो ये तो अन्ततः शाकाहारी ही हैं।

बच्चों को कुछ हद तक बात समझ में आई, ऐसा प्रतीत हुआ। तो फिर से बात को खींचकर उसी बिन्दु पर लाने की कोशिश की गई कि आख़िर पत्तियों के रंग में यह फ़र्क़ क्यों? एक आसान-सा जवाब तो वही जिसका जवाब मैंने ऊपर दिया कि हाँ, पत्ती की ऊपरी सतह पर क्लोरोफ़िल अधिक होता है बनिस्बत निचली सतह के।

अब तक मैंने प्रकाश-संश्लेषण के बारे में जो कुछ पढ़ा था उसके आधार पर एक स्तर का जवाब देने में कोई दिक़्क़त नहीं थी। लेकिन सवाल का मूल जवाब अभी भी दूर था।

इस दौरान पेड़-पौधों द्वारा सूरज के प्रकाश को पाने की रणनीति को लेकर मुझे जानने-समझने को मिला। तब यह सवाल प्रमुखता से एक नए आयाम के साथ उभरा जो मुझे भी अचम्भित करने वाला था। सूर्य की ऊर्जा को अधिक-से-अधिक पाना ही पत्तियों का अहम कार्य है। पत्तियाँ चपटी होती हैं और वे हर हाल में इस लायक़ होती हैं कि प्रकाश को अधिक-से-अधिक पा सकें। पेड़ की शाखाओं पर पत्तियों की जमावट से लगाकर पेड़ की छतरी (canopy) इस तरह की होती है कि प्रत्येक पत्ती को अधिक-से-अधिक रोशनी मिले और वे प्रकाश-संश्लेषण की क्रिया को अंजाम दे सकें। बेशक, पत्तियों के कार्य अब तक जो पढ़े थे उसमें पत्ती के प्रकाश को पकड़ने (हार्वेस्ट) की बात मुखर रूप से नहीं उभरी थी जिस पर इस सवाल ने सोचने व पढ़ने को बाध्य किया।

चित्र : शिवेंद्र

मैंने कई पेड़-पौधों का अवलोकन किया और पाया कि हर पेड़-पौधे की पत्तियाँ मानो प्रकाश को पकड़ने के लिए बेताब हों। पत्ती की ऊपरी सतह पर अधिक सीधा प्रकाश पड़ता है। इसलिए क्लोरोफ़िल की मात्रा पत्ती की ऊपरी सतह पर अधिक होती है बनिस्बत निचली सतह के। बेशक, पत्तियों की निचली सतह पर सीधा प्रकाश नहीं गिरता है।

एक बात और की गई। कुछ ऐसे पेड़-पौधों को खोजने की कोशिश की गई जिनमें कुछ ऐसी स्थितियाँ निर्मित होती हों जहाँ पत्ती की ऊपरी व निचली सतह पर बराबर से रोशनी गिरती हो, ऐसे पौधे देखे जा सकें। घर में सुन्दरता के लिए लगाए जाने वाले मनी प्लांट की पत्तियों में मुझे दिलचस्प नज़ारा देखने को मिला। मनी प्लांट की पत्तियाँ जिनमें दोनों सतहों पर बराबर रोशनी पड़ रही हो, ऐसी पत्तियों की दोनों सतहें लगभग एक जैसी हरा रंग लिए दिखाई दीं। ज़ाहिर है कि बराबर रोशनी दोनों सतहों पर गिर रही है। उस पत्ती के पास की ही दूसरी पत्ती जिसकी ऊपरी सतह सूर्य की

तरफ़ है, वह अधिक हरी है बनिस्बत निचली सतह के।

बच्चे कैसे बनते हैं ?

एक और सवाल का ज़िक्र करना उचित होगा। यह सवाल उस श्रेणी में आता है जिसपर हम विमर्श करने से कतराते हैं। एक बच्चे ने पूछा था कि बच्चे कैसे बनते हैं? बेशक, यह सवाल मानव प्रजनन से जुड़ा है।

चूँकि सवाल मानव प्रजनन व यौन सम्बन्धों की श्रेणी में आता है इसलिए ज़ाहिर है कि हम अपने बीच इस विमर्श से बचते हैं। अकसर शिक्षक अपनी कक्षाओं में प्रजनन की अवधारणा पर बातचीत करने से कतराते हैं। सुधि पाठकों के पास ऐसे तमाम उदाहरण होंगे जहाँ शिक्षक न केवल माध्यमिक कक्षाओं के स्तर पर बल्कि महाविद्यालयों के स्तर पर भी जीवशास्त्र में जब प्रजनन तंत्र के शिक्षण की बारी आती, तो वे उसे टालने की कोशिश करते या फिर अगर वे पढ़ाते भी तो शिक्षक और विद्यार्थियों के बीच की नज़रें जुदा ही होतीं।

लेकिन फिर इस तरह के सवालों के जवाब शिक्षक देने की कोशिश करते हैं। यहाँ एक जवाब आठवीं कक्षा के विद्यार्थियों को शिक्षिका ने दिया, वह प्रस्तुत कर रहा हूँ।

आठवीं कक्षा की एक छात्रा ने अपनी शिक्षिका से सवाल पूछा कि बच्चे कैसे बनते हैं? उस शिक्षिका ने विस्तार से बताया। उल्लेखनीय है कि उस कक्षा में लड़के और लड़कियाँ दोनों ही अध्ययन कर रहे थे। वह बच्चों से बातचीत भी करती जा रही थीं।

कोई भी जीव हो दुनिया में। चाहे वह पेड़-पौधे हों या जानवर। वह अपने वंश को आगे बढ़ाने के लिए अण्डे या बच्चे ज़रूर पैदा करते हैं। यह दो तरीक़ों से होता है।

पहला तरीक़ा है जिसमें किसी पेड़-पौधे की हम कलम काटकर ज़मीन में गाड़ देते हैं और उससे नया पौधा बन जाता है। यह अलैंगिक तरीक़ा है। पेड़-पौधों में ऐसे अधिक उदाहरण दिखाई देते हैं। आपने अवलोकन किया होगा कि आलू, अदरक, गन्ने, हल्दी की फसल के लिए इनको बो देते हैं और नए पौधे फूट आते हैं।

जब पौधे बीज से बनते हैं, तो यह लैंगिक प्रजनन है। बीज फूल से बनते हैं, यह लैंगिक प्रक्रिया है। इसमें फूल के नर भाग के परागकण मादा की वर्तिकाग्र तक पहुँचते हैं। इसमें दो लिंगों का होना अनिवार्य शर्त है।

अबकी बार शिक्षिका ने पूछा कि तुमने अपने आसपास जानवरों के बच्चे देखे होंगे? ये कैसे बनते होंगे? बच्चों के जवाब थे कि गाय, बछड़े को जनती है। एक विद्यार्थी ने बताया कि उसने गाय को बछड़ा जनते हुए उसके खेत में देखा है। बछड़े का माथा (सिर) गाय के पिसाब (पेशाब) वाले रास्ते से बाहर को निकला। फिर ज़ोर से उसके माथे को पकड़कर एक आदमी ने खींचा। गाय परेशान हो रही थी। थोड़ी देर में बछड़ा ज़मीन पर गिर गया। बछड़े को ख़ून लगा हुआ था। फिर उसके पेट से एक लम्बी डोरी (रस्सी) लगी हुई थी। उसको थोड़ी देर बाद एक चाकू से काट दिया। फिर गाय बछड़े को चाटने लगी। एक घण्टे में बछड़ा उठकर बैठ गया और खड़ा होने की कोशिश करने लगा।

एक छात्रा ने बताया कि उसके बाड़े में कुतिया ने छह पिल्लों को जना था। उसने बताया कि चूँकि कुतिया ने रात में पिल्लों को जन्म दिया इसलिए कैसे जने, ये देखा नहीं जा सका।

अब शिक्षिका ने पूछा कि आख़िर कैसे माँ के पेट में बच्चे बनते हैं? इसको लेकर बच्चों के पास कोई जवाब नहीं था। शिक्षिका ने इस मामले में चतुराई से बातचीत की।

"देखो, ये तो हम समझते हैं कि कुत्ते में कुत्ता और कुतिया होती है। कुत्ता नर और कुतिया मादा होती है। बकरा नर और बकरी मादा होती है। ऐसे ही चूहे और चूहिया, सुअर और सुअरनी...। इनमें नर और मादा का मिलना ज़रूरी होता है। अण्डा मादा की अण्डादानी में बनता है। नर

शुक्राणु मादा की बच्चादानी (गर्भाशय) में डालता है। यहाँ पर मादा के अण्डाणु से शुक्राणु का जुड़ाव होता है और गर्भ ठहर जाता है। इस तरह से आगे फिर यह बच्चादानी में चिपक जाता है।

इंसानों में भी ऐसा ही होता है। माँ के पेट में बच्चा नौ महीने रहता है। माँ की अण्डादानी से अण्डा छूटता है। और फिर पिताजी से शुक्राणु माँ के गर्भाशय में पहुँचता है। दोनों मिलते हैं और फिर वह बच्चादानी से चिपक जाता है। फिर नौ महीने के बाद बच्चे का जन्म होता है।

शिक्षिका इस विमर्श में अपना दायरा भी निर्धारित करती जा रही थीं। शिक्षिका ने बच्चों को जहाँ अपने अनुभव साझा करने के मौक़े दिए, वहीं पर वह सरलता से बच्चों के जन्म की कहानी भी प्रस्तुत कर सकीं।

अहम क्या है ?

इस तरह के सवालों में अहम क्या है? अहम प्रजनन तंत्र की सम्पूर्ण गूढ़ जानकारी देना नहीं बल्कि इस विमर्श का रास्ता खोलना है।

बच्चों के सामने नेकनीयत के साथ किसी मुद्दे पर बात रख पाना जहाँ शिक्षक की ख़ूबी होती है वहीं यह बच्चों का शिक्षक में विश्वास जगाता है। बिना किसी संकोच के साफ़गोई से इस विषय पर बातचीत हो सकती है। 'सेक्स एजुकेशन' को लेकर बच्चों के बीच बातचीत की जा सकती है।

ज़रूरी है शिक्षकों के साथ बातचीत

अकसर शिक्षक भी इस तरह के सवाल करते हैं। उनके साथ इन मसलों पर विमर्श की ख़ासी ज़रूरत है। पिछले वर्षों में मैंने खरगोन ज़िले में (खरगोन व रायबिड़पुरा) टीएलसी पर माहवारी पर बातचीत की थी। माहवारी का मामला काफ़ी संवेदनशील है। मैंने इसके जीवशास्त्रीय व सामाजिक पहलुओं पर बेबाक़ तरीक़े से अपनी बात रखी थी। इन दोनों जगहों पर महिला व पुरुष दोनों ही शिक्षक थे। और दरअसल एक साथ बैठे शिक्षक व शिक्षिकाएँ इस विमर्श में सक्रिय रूप से जुड़कर भाग ले रहे थे। मुझे लगा कि शिक्षिकाएँ व शिक्षक माहवारी के जीवशास्त्रीय पहलुओं के साथ ही सामाजिक पहलुओं पर अपने विचार साझा कर रहे थे। इससे समझ में आया कि संकोच व झिझक ही इन मुद्दों पर विमर्श के लिए आड़े आते हैं। हाँ, इस विमर्श में भाषाई संयमता के साथ उचित उदाहरणों को तवज्जो देना या नज़रअन्दाज़ करने की चतुराई हममें होनी चाहिए।

इस तरह के सवालों के जवाब तैयार करने में ग़ैर-पाठ्यपुस्तकों की ज़रूरत होगी। यहाँ मैं मिसाल के तौर पर एक सन्दर्भ पुस्तक का उल्लेख करना चाहूँगा जो मानव प्रजनन की परतों को बड़ी सहजता के साथ खोलती है। वह किताब है *बेटी करे सवाल।* यह किताब एकलव्य द्वारा प्रकाशित की गई है। इसी तरह की और भी किताबें हैं। बहुत सारे वीडियो भी इंटरनेट पर मिल सकते हैं। लेकिन इंटरनेट का इस्तेमाल करने के लिए इतना विवेक चाहिए कि वह सामग्री उपयुक्त है या नहीं, यह समझ में आ सके।

कालू राम शर्मा ने लगभग तीन दशक तक शैक्षिक संस्था एकलव्य और विद्या भवन सोसायटी के साथ काम किया है। वे विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में शिक्षा, विज्ञान, पर्यावरण और सामाजिक सरोकारों के विषयों पर निरन्तर लिखते रहते हैं। आपने *बुनियादी शिक्षा : एक नई कोशिश* व *खोजबीन* पत्रिकाओं का सम्पादन किया है। आपकी कई पुस्तकें प्रकाशित हैं जिनमें *खोजबीन का आनन्द, अंडे ही अंडे, छोटे जीवों से जान पहचान* और नव साक्षरों के लिए लिखी किताबें प्रमुख हैं। विगत 9 वर्षों से अज़ीम प्रेमजी फ़ाउण्डेशन में काम कर रहे हैं।

सम्पर्क : kr.sharma@azimpremjifoundation.org

शिक्षकों का अनुभव लेखन
शिक्षक–शिक्षा में जगह और सम्भावनाएँ

अमित कोहली

आजकल शिक्षकों के प्रोफ़ेशनल डेवलपमेंट की काफ़ी बातें होने लगी हैं और प्रयास भी खूब हो रहे हैं। लेकिन दृष्टि निर्माण और क्षमतावर्धन के लिए जो पठन सामग्री शिक्षक प्रशिक्षणों में या अन्य तरह से इस्तेमाल की जाती है उससे कई बार शिक्षकों का कोई जुड़ाव नहीं बन पाता। ऐसे में यदि शिक्षक साथियों का अनुभव लेखन, बतौर पठन सामग्री उपलब्ध हो तो वह ज़्यादा कारगर हो सकता है। अनुभव लेखन, शिक्षक को अपने काम को अभिव्यक्त करने की क्षमता और अवसर तो देता ही है साथी शिक्षकों को दृष्टि देने, प्रेरित करने और विषयवस्तु से सीधा जुड़ाव बनाने में मददगार हो सकता है। अनुभव लेखन भी शिक्षकों के प्रोफ़ेशनल डेवलपमेंट का एक अभिन्न हिस्सा होना चाहिए। अमित कोहली ने इस आलेख के माध्यम से शिक्षकों के अनुभव लेखन के विभिन्न पहलुओं पर चर्चा की है। सं.

शिक्षक प्रशिक्षणों में जो पठन सामग्री इस्तेमाल होती है, वह अधिकांशतया 'किसी और' की लिखी गई होती है। यह 'कोई और' अकसर दूर देश का कोई विशेषज्ञ, विद्वान होता / होती है। उनके लिखे का सन्दर्भ, प्रसंग, उदाहरण आदि भी आमतौर पर शिक्षकों को दूर का और शायद इसीलिए पराया प्रतीत होता है। इस वजह से पठन सामग्री और प्रशिक्षु शिक्षक के बीच सहज तादात्म्य बनना बहुधा मुश्किल हो जाता है।

शिक्षक प्रशिक्षक भी इस विकट वस्तुस्थिति से अनजान नहीं होते हैं, पर विषय के अनुरूप सामग्री चयन के वक़्त वे पाते हैं कि स्थानीय परिवेश में शिक्षकों के प्रत्यक्ष अनुभव से उपजी लिखित सामग्री का नितान्त अभाव है। इसलिए उनकी मजबूरी हो जाती है कि उपलब्ध विकल्पों में से ही पठन सामग्री का चयन कर काम चलाया जाए।

इस क्रम में अनुवाद एक बहुआयामी चुनौती है। विदेशी सामग्री चूँकि अधिकांशतया अँग्रेज़ी में होती है, उसे समझना प्रादेशिक भाषा माध्यम में पढ़ाने वाले प्राथमिक और माध्यमिक कक्षाओं के शिक्षकों के लिए आमतौर पर टेढ़ी खीर होता है। ज़ाहिर है, इन हालात में मूल सामग्री का अनुवाद कराया जाना लाज़िमी हो जाता है। यहाँ पहली चुनौती प्रादेशिक भाषा में गुणवत्तापूर्ण और सहज प्रवाहमय भाषा में अनुवाद करने वाले व्यक्तियों की खोज करना होता है। फिर उनका समय मिलना भी आसान नहीं, क्योंकि अच्छे अनुवादकों की माँग बहुत है। फिर भी कई बार देखा जाता है कि कुछ मौक़ों पर अनुवाद मूल पाठ से दूर जाता हुआ नज़र आता है। इसलिए पाठकों को अर्थनिर्माण में मुश्किल होती है। वैसे भी हम सभी जानते हैं कि प्रत्येक भाषा अपने साथ एक सांस्कृतिक परिवेश लेकर चलती है। किसी कथन का शाब्दिक अनुवाद तो आसानी से किया जा सकता है, लेकिन कथन में जो निहितार्थ होते हैं, अनकही परतें होती हैं और उसकी जो स्थानीयता है, उसे अनूदित नहीं किया जा सकता। ये तो जज़्ब करने की चीज़ें हैं, जो सिर्फ़ भाषा को जज़्ब करने भर से नहीं हो जाता है।

अनुभवात्मक लेखन के आयाम

इन तमाम मुश्किलों से प्रशिक्षक और प्रशिक्षु दोनों को दो-चार होना पड़ता है। ऐसे में स्थानीय लेखन की कमी बेहद खलती है। अगर शिक्षक ख़ुद अपने अनुभव लिखना शुरू करें तो इस कमी को काफ़ी हद तक पूरा किया जा सकता है। योग्य प्रशिक्षक थोड़ी मेहनत करें तो शिक्षकों के अनुभवात्मक लेखन को शिक्षा-सिद्धान्तों के बरअक्स रखकर पेश कर सकता / सकती है। या फिर प्रादेशिक भाषाओं में जो सैद्धान्तिक लेखन है– ज़ाहिर है कि वह अपेक्षाकृत कठिन और अमूर्त होता है– उसे समझाने के लिए शिक्षकों के अनुभवात्मक लेखन का उदाहरण, प्रयोग या व्यावहारिक पक्ष के रूप में इस्तेमाल किया जा सकता है। इस रूप में सैद्धान्तिक अमूर्त लेखन और शिक्षकों का अनुभवात्मक लेखन परस्पर पूरक के रूप में शिक्षक प्रशिक्षण के उपयोगी माध्यम हो सकते हैं।

शिक्षकों का अनुभवात्मक लेखन सैद्धान्तिक अवधारणाओं को समझने में मदद करने वाली मानवीय अनुभवों की वह दृष्टि प्रदान करता है जो निजी या सामाजिक अन्तर्क्रियाओं से उपजी होती है।

अनुभव लेखन के तीन आयाम होते हैं– व्यावहारिकता, सामाजिकता और स्थानीयता। ये तीन आयाम अनुभवात्मक लेखन में परस्पर गुँथे हुए होते हैं और उनकी यही विशेषता उन्हें अन्य अकादमिक लेखनों से अलग करती है।[1]

अनुभवात्मक लेखन की व्यावहारिकता उसका सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण आयाम है क्योंकि वे शिक्षक द्वारा जीए गए जीवन का हिस्सा होते हैं। इसलिए ये हमें अमूर्तता के अबूझ-से संजाल में उलझा देने के बदले सांसारिक मूर्तता का अनुभव कराते हैं। चूँकि ये जीये गए अनुभव होते हैं, उनमें सामाजिक और स्थानीय अन्तर्क्रिया स्वाभाविक रूप से जुड़ी हुई होती है। इस रूप में अनुभवात्मक लेखन शिक्षक प्रशिक्षणों के दौरान मूर्तता से अमूर्तता की ओर ले जाने वाली एक सुलभ सीढ़ी का काम कर सकते हैं।

अनुभव लेखन की उपयोगिता

प्रशिक्षण के दौरान या बाद में, इस प्रकार के अनुभवात्मक लेखन पर मनन करते हुए शिक्षकों के समक्ष नई आशाओं, नई सम्भावनाओं और नई अपेक्षाओं का विश्व भी खुलता है। इन्हें तीन दृष्टिकोणों से पढ़ा जा सकता है– पहला है, सैद्धान्तिक अन्तर्दृष्टि लिए हुए लेखक-शिक्षक के अनुभव जो पाठक-शिक्षक को आशा प्रदान करते हैं। दूसरा है, अपने काम और अनुभवों की प्रतिध्वनि, जिसमें पाठक-शिक्षक अपने-आप की छवि उस लेखन में देख सकता / सकती है। तीसरा दृष्टिकोण है, सम्भावनाओं के द्वार। इन तीनों दृष्टिकोणों के साथ शिक्षकों के अनुभव लेखन का उपयोग किया जा सकता है। इनको पढ़ते हुए पाठक-शिक्षक यह महसूस करने लगते हैं, "जो अब तक मैंने नहीं किया है, वह किया जा सकता है।" इस प्रकार अनुभवात्मक लेखन शिक्षकों के उत्तरोत्तर विकास का एक रास्ता बनाते हुए भी नज़र आते हैं।[2]

ज्ञान निर्माण का आधार

ऐनी लॉरा फ़ोर्साइथ मूर अपने एक आलेख[3] में कहती हैं, "निजी और पेशागत अनुभव लेखन हमें 'ज्ञान के ढाँचे' प्रदान करते हैं, जिनमें हम ज्ञान-निर्माण और अर्थ-निर्माण करते हैं।" इस तरह, अनुभव लेखन लेखक-शिक्षक को भी अपने अनुभवों पर मनन करने और अपने अनुभवों को 'ज्ञान' के रूप में देखने की प्रेरणा देते हैं और इस तरह उन्हें एक बेहतर शिक्षक बनने में मदद करते हैं। वे आगे कहती हैं, "लेखन के मेरे अभ्यास ने निजी ज्ञान का रूप ले लिया है जिसे मैं एक शिक्षक के रूप में अपने पेशागत कार्यों में इस्तेमाल कर सकती हूँ।"[4]

1. कॉनोली व क्लैंडिनिन, *हैण्डबुक ऑफ़ कॉम्प्लिमेंटरी मैथड्स इन एजुकेशन रिसर्च, 2006।*

2. मैक्सिन ग्रीन, *फ़्रॉम बेअर फ़ैक्ट्स टू इंटेलेक्चुअल पॉसिबिलिटी : द लीप ऑफ़ इमैजिनेशन, 2008।*

3. मूर,एनी, *नैरेटिव्स ऑन टीचिंग एंड टीचर एजुकेशन; नैरेटिव फ़्रेमवर्क्स ऑफ़ लिविंग, लर्निंग, रिसर्चिंग, एंड टीचिंग* (सम्पादन - ऐंड्रिया, एम.ए. मैटोस) 2009

4. वही

सिद्धान्त और व्यवहार के बीच संवाद

हम जानते हैं कि सीखना-सिखाना किसी सामाजिक परिवेश में घटित होता है, जो अपने-आप में जटिल संरचना है।[5] शिक्षकों के अनुभव उस जटिलता को व्यक्त करने और स्पष्ट करने का एक सशक्त माध्यम हो सकते हैं। ये अनुभव शिक्षण-कर्म के सिद्धान्तों और वास्तविक कक्षा में सिखाने की मूर्त प्रक्रिया के बीच समझ का विकास करने में सहायक होते हैं।

शिक्षक शिक्षा में अकसर सिद्धान्तों को लागू करने की पद्धति पर ज़ोर दिया जाता है। अकादमिक पुस्तकों में शिक्षा जगत के विद्वानों ने जो सिद्धान्त बताए हैं, उन्हें पाठ्यक्रम में लागू करते हुए कक्षा संचालन करना, इसे नवाचारी शिक्षा पद्धति समझने की भूल की जा सकती है।

हम जानते हैं कि परम्परागत रूप से शिक्षा महाविद्यालयों में सिद्धान्तों पर अधिक ज़ोर दिया जाता रहा है। जबकि दूसरी ओर स्कूल की संस्कृति व्यावहारिक अनुभवों और कठोर वास्तविकताओं से भरी होती है, जिसका प्रत्यक्ष रिश्ता अकादमिक सिद्धान्तों से बिरले ही नज़र आता है। नए शिक्षक जब कक्षा में पहुँचते हैं तो वे सिद्धान्तों को कक्षा में लागू करने का दबाव लेकर आते हैं, परिणामस्वरूप व्यावहारिक और सैद्धान्तिक पक्ष के द्वन्द्व में उनके उलझ जाने की प्रबल सम्भावना होती है। ऐसी उलझन से बचने के लिए शिक्षक प्रशिक्षण के दौरान शिक्षकों के अनुभवों का पठन-पाठन किया जाना निहायत ज़रूरी जान पड़ता है, ताकि जब नए शिक्षक पहले-पहल कक्षा में क़दम रखें तो अन्य शिक्षकों के द्वारा अर्जित किए गए अनुभवों का ज्ञान उनके साथ हो।

अनुभव लेखन के प्रकार

शिक्षकों के अनुभव लेखन को हम मोटेतौर पर चार श्रेणियों में बाँट सकते हैं। यद्यपि अधिकांश लेखनों में ये चारों, या इनमें से दो या तीन श्रेणियाँ परस्पर इस तरह गुँथी हुई हो सकती हैं कि उनकी अलग पहचान करना मुश्किल हो। दरअसल इन श्रेणियों को अलग-अलग खाँचों में रखकर देखने की ज़रूरत भी नहीं है। बस हमें यह समझने की ज़रूरत है कि अनुभव लेखन में कौन-कौन से तत्त्व हैं, कौन-कौन-सी ख़ासियतें हैं, ताकि उनका इस्तेमाल हम सही मौक़ों पर कर सकें।

(1) वर्णनात्मक – किसी कक्षा में गणित का पीरियड है और शिक्षिका बच्चों को भाग करना, सम-विभाजन करना सिखा रही है। वह विद्यार्थियों के समक्ष कोई प्रश्न रखती है जैसे– अपनी कक्षा में 42 विद्यार्थी और 7 गेंदें हैं। तो प्रत्येक गेंद से खेलने के लिए बराबर-बराबर संख्या में विद्यार्थियों के कितने समूह बन सकते हैं?

फिर विद्यार्थी उसपर चर्चा करते हैं, सोचते हैं, सवाल करते हैं, शिक्षिका चर्चा को आगे बढ़ाने के लिए विद्यार्थियों से ही प्रतिप्रश्न करती है, विद्यार्थी आपस में चर्चा करते हैं। हो सकता है कि शिक्षिका कक्षा में सात गेंद लेकर आए और सम-विभाजन की प्रत्यक्ष गतिविधि कराए। इस गतिविधि के बाद फिर चर्चा हो, किसी संख्या को किन्हीं बराबर हिस्सों में बाँटने के अन्य सवालों पर चर्चा हो। इस क्रम में शिक्षिका भागफल निकालने की कलन विधि तक विद्यार्थियों को पहुँचने में मदद करे...।

यह एक उदाहरण मात्र है, इस तरह प्रत्यक्ष अनुभव के आधार पर किसी चर्चा या गतिविधि का वर्णन लिखा जाए तो उसे हम वर्णनात्मक लेखन कह सकते हैं। इसे शिक्षिका दृष्टा भाव से लिखती है। जो हुआ, जैसे हुआ, उसे दर्ज कर लिया। मानो कक्षा में क़ैमरा घूम रहा है और जो घटित होते जा रहा है, वह रिकॉर्ड किया जा रहा है।

इस प्रकार के लेखन में चर्चा या गतिविधि की जितनी ज़्यादा तफ़सील दर्ज होगी, लेखन की उपयोगिता उतनी ही अधिक होगी। क्योंकि इससे पाठक को कक्षा में मौजूद होने का

5. लेव वायगोत्स्की; *माइंड इन सोसायटी : द डेवलपमेंट ऑफ़ हायर सायकोलॉजिकल प्रोसेस।*

अहसास मिलेगा और वो हर छोटी-से-छोटी बात, जो सीखने-सिखाने की प्रक्रिया में महत्त्वपूर्ण हो सकती है, पर ग़ौर कर सकेगा / सकेगी। वर्णनात्मक अनुभव लेखन में पाठकों को अपेक्षाकृत अधिक आज़ादी मिलती है कि वे कक्षा में घटित हुई चर्चा या गतिविधि की व्याख्या कर सकें और उसका अर्थ या बोध निर्माण स्वतंत्र रूप से स्वयं कर सकें।

(2) **मननात्मक** – ऊपर उल्लेखित अनुभव की भीतर की परतों में जाकर देखते हैं। मान लो कि उक्त शिक्षिका अपनी लेखन शैली में बदलाव करके अनुभव लेखन में यह दर्ज करती है– कक्षा में चर्चा के जो विषय या प्रश्नों का जो क्रम है, वो उसी क्रम से रखना उन्होंने ज़रूरी क्यों समझा? क्या सोचकर गेंद वाली गतिविधि का नियोजन किया? बातचीत के दौरान शिक्षिका के मन में क्या चल रहा था? बच्चों के मन में क्या चल रहा होगा? इस गतिविधि से क्या हासिल हुआ? फलाँ गतिविधि करने की कक्षा में क्या और क्यों उपयोगिता रही? वग़ैरह। अगर गतिविधि की तफ़सील के साथ इन जैसे सवालों पर शिक्षिका अपना चिन्तन, अपने विचार भी अनुभव लेखन में दर्ज करती है तो हम इसे मननात्मक अनुभव लेखन की श्रेणी में रख सकते हैं।

> लेखन में चर्चा या गतिविधि की जितनी ज़्यादा तफ़सील दर्ज होगी, लेखन की उपयोगिता उतनी ही अधिक होगी। क्योंकि इससे पाठक को कक्षा में मौजूद होने का अहसास मिलेगा और वो हर छोटी-से-छोटी बात, जो सीखने-सिखाने की प्रक्रिया में महत्त्वपूर्ण हो सकती है, पर ग़ौर कर सकेगा / सकेगी।

इस लेखन से पाठक को सिर्फ़ वर्णन ही नहीं, लेखक-शिक्षक के विचार भी मिलते हैं। यानी कक्षा में क़ैमरा घूमकर सिर्फ़ दृश्य ही नहीं रिकॉर्ड कर रहा, बल्कि कोई कमेंट्री भी कर रहा है।

इसका फ़ायदा यह है कि लेखक-शिक्षक कक्षा में घटित उस गतिविधि के औचित्य को, योजना को, हासिल को और अपनी समझ को पाठक-शिक्षक के समक्ष प्रस्तुत कर पाता है। इसमें गतिविधि करा रहे शिक्षक को अपनी एजेंसी, अपना मत और अपना व्यक्तित्व भी साझा करने का मौक़ा मिलता है। इससे गतिविधि का समग्र स्वरूप समझ पाने में मदद मिल सकती है। लेकिन कभी-कभी यह पाठक-शिक्षक के लिए बाधा भी बन सकता है क्योंकि इससे व्याख्या करने और बोध निर्माण करने की उसकी स्वतंत्रता सीमित होने की सम्भावना रहती है।

(3) **समस्या चिह्नांकन** – कोई शिक्षिका यदि यह चिह्नित करे कि कक्षा 3 और 4 के विद्यार्थियों को भागफल निकालने की कलन विधि समझने में कठिनाई होती है। यह कठिनाई सिर्फ़ उसकी कक्षा की नहीं, बल्कि अन्य शालाओं की, अन्य ज़िलों, प्रदेशों में भी विद्यार्थियों को होती होगी। तो वह अपनी कक्षा में हुई बातचीत, सवाल-जवाब, विद्यार्थियों के दिए हुए ग़लत जवाब आदि को तफ़सील में दर्ज करके भागफल निकालने की कलन विधि में आने वाली समस्या को प्राथमिक कक्षाओं में गणित शिक्षण की एक व्यापक समस्या के रूप में चिह्नित करके लिखती है। इसे हम समस्या चिह्नित करना कहेंगे।

इसमें यह ज़रूरी है कि समस्या तो हम एक ही– जैसे, भागफल की कलन विधि– चिह्नित करें तो बेहतर है। लेकिन शिक्षिका के अपने प्रयास और विद्यार्थियों के प्रतिसाद को जितने विस्तार से लिखा जाए, उतना ही फ़ायदेमन्द यह लेखन होगा। समस्या चिह्नांकन इसलिए बेहद ज़रूरी हो जाता है क्योंकि हम देखते हैं कि अनेक शिक्षक-शिक्षिका विविध सवालों-समस्याओं से अपनी कक्षाओं में जूझ रहे होते हैं और मानते हैं कि यह सिर्फ़ उनकी समस्या है। बहुधा वे यह धारणा बना लेते हैं कि एक शिक्षक के रूप में वे अपने विद्यार्थियों की मदद करने में नाकाम हैं या फिर विद्यार्थी ही में कोई कमी है जो वे समझ नहीं पा रहे हैं। जब ऐसे शिक्षक अपने अनुभव लेखन में किसी

समस्या को चिह्नित करके साझा करते हैं तो न सिर्फ़ वे अपनी कक्षा की किसी समस्या को स्कूली शिक्षा की एक व्यापक समस्या के रूप में दुनिया के समक्ष पेश करते हुए अपने जैसे अन्य शिक्षकों की आवाज़ बन रहे होते हैं, बल्कि वे समस्या को दुनिया के सामने पेश करके उसका समाधान भी आमंत्रित कर रहे होते हैं। हो सकता है कि उनकी समस्या किसी नए शोध या नवाचार की प्रेरणा बने। इस रूप में वे अपनी और अपने कक्षा के विद्यार्थियों के साथ-साथ समूचे शिक्षा जगत की भी मदद कर रहे होते हैं।

(4) **समस्या-समाधान** – कक्षा में किसी भी अवधारणा, जैसे, हम भागफल निकालने की कलन विधि की चर्चा कर रहे हैं, को सीखने-सिखाने के कई तरीक़े हो सकते हैं। अनेक शिक्षक अपने अनुभव, समझ और अपने विद्यार्थियों की सीखने-समझने की गति के हिसाब से अलग-अलग गतिविधियाँ करते हैं। अकसर ऐसा होता है कि एक शिक्षिका अपनी कक्षा में जो चर्चा करती है, जो सवाल पूछती है, जो गतिविधि करती है, वह किसी अन्य शिक्षक के लिए अनुकरणीय हो। कोई अन्य शिक्षिका अगर किसी समस्या से जूझ रही है, तो उसके लिए वह एक समाधानकारी उपाय हो। इसलिए किसी अवधारणा विशेष को कक्षा में प्रस्तुत करने, उसे सीखने-समझने में विद्यार्थियों की मदद करने के लिए यदि कोई शिक्षिका नवाचारी तरीक़ा अपनाती है और अपने कक्षा अनुभव को विस्तार से लिखकर वह दर्ज करती है तो यह अनुभव लेखन, समस्या-समाधान की श्रेणी में आ सकता है।

> शिक्षकों को अपने अनुभव लिखते रहना चाहिए और शिक्षक समुदाय के बीच साझा करते रहना चाहिए। बेहतर होगा कि यह लेखन शिक्षक अपनी मातृभाषा या प्रादेशिक भाषा— जो प्रदेश में शिक्षा का माध्यम हो— में करें। इसके ज़रिए वे अपने कार्य का जुड़ाव शिक्षा सिद्धान्तों से करने में स्वयं की और साथी शिक्षकों की मदद करेंगे!

जैसे भागफल निकालने के तरीक़े की ही बात ली जाए तो मान लीजिए कि वह यह दर्ज करती है कि भागफल निकालने की कलन विधि तक विद्यार्थियों को पहुँचने में मदद करने के क्या-क्या चरण हो सकते हैं? पहले हम विद्यार्थियों को किन्हीं वस्तुओं को किन्हीं समूहों में बराबर-बराबर बाँटने के लिए कह सकते हैं। बाँटने की इस क्रिया को विद्यार्थी मौखिक या लिखित रूप में बार-बार घटाकर, बार-बार जोड़कर, बार-बार गुणा करके भी कर सकते हैं। यह भागफल निकालने की मौखिक या ग़ैर-कलन विधि हो सकती है। इसके बाद चरणबद्ध रूप से शिक्षिका कलन विधि तक आती है। तो, भागफल कलन विधि सिखाने का यह एक मॉडल हो सकता है, एक उदाहरण हो सकता है, एक नवाचारी पद्धति हो सकती है जो कि अन्य शिक्षकों को अपनी कक्षा में मदद कर सकती है।

अन्त में हम यह कह सकते हैं कि शिक्षकों को अपने अनुभव लिखते रहना चाहिए और शिक्षक समुदाय के बीच साझा करते रहना चाहिए। बेहतर होगा कि यह लेखन शिक्षक अपनी मातृभाषा या प्रादेशिक भाषा– जो प्रदेश में शिक्षा का माध्यम हो– में करें। इसके ज़रिए वे अपने कार्य का जुड़ाव शिक्षा सिद्धान्तों से करने में स्वयं की और साथी शिक्षकों की मदद करेंगे; अपने कार्य और उसके अर्थ और बोध का निर्माण करते हुए स्वयं की क्षमताओं-दक्षताओं का विकास करेंगे और शिक्षा जगत की एक बड़ी कमी को पूरा करेंगे जो आमतौर पर सभी महसूस करते हैं। निजी डायरी लेखन इसकी एक अच्छी शुरुआत हो सकती है।

अमित कोहली घुमक्कड़ी करने और पढ़ने के शौकीन हैं। तक़रीबन 15 साल एकलव्य फ़ाउण्डेशन के साथ विविध स्तरों पर काम किया है। शिक्षा के इतिहास, डिस्कूलिंग एवं वैकल्पिक शिक्षा में विशेष रुचि है। अमित स्वयं को वैचारिक रूप से गाँधीजी के क़रीब पाते हैं।
सम्पर्क : amt1205@gmail.com

प्रिंसिपल साहब का होना

मणीश कुमार ठाकुर

स्वातंत्र्योत्तर भारत में 1960, 1970 और 1980 के दशकों में भारत के छोटे शहरों, कस्बों और गाँवों में शैक्षिक संस्थाओं का ऊर्ध्वगामी और क्षैतिज विस्तार हुआ। जिन गाँवों और कस्बों में पहले से प्राथमिक और मध्य विद्यालय थे वहाँ उच्च विद्यालय और महाविद्यालय स्थापित हुए। जिन छोटे शहरों में पहले से दो उच्च विद्यालय थे वहाँ चार उच्च विद्यालय स्थापित हुए। जहाँ पहले से एक कॉलेज था वहाँ दो कॉलेज स्थापित हुए। शैक्षिक संस्थाओं का यह विस्तार सिर्फ़ राज्य की योजनाओं के अन्तर्गत नहीं हुआ, ज़्यादातर ये संस्थान स्थानीय लोगों की पहलक़दमियों से स्थापित हुए। जन सहयोग से स्थापित ये संस्थान स्थानीय चेतना के उदात्त और तुच्छ पहलुओं को एक साथ उजागर करते हैं। ऐसे ही एक संस्थान को नेतृत्व देने वाले प्रधानाचार्य के व्यक्तित्व को यह संस्मरणात्मक लेख सामने लाता है। स्कूल या इंस्टीटूशनल लीडरशिप की चर्चा कई बार ऐतिहासिक और सामाजिक सन्दर्भों की अनदेखी करते हुए की जाती है। इंस्टीटूशन और इंस्टीटूशनल लीडरशिप की ठोस परख के लिए ज़रूरी है कि उन्हें उनकी ऐतिहासिक और सामाजिक अवस्थिति के साथ समझा जाए। यह संस्मरणात्मक लेख एक ख़ास परिवेश में विकसित हुई इंस्टीटूशनल लीडरशिप की रूपरेखा को उसकी तमाम जटिलताओं के साथ उकेरने की कोशिश करता है।

भारत में 1960-70 के दशक में उच्च शिक्षा का सांस्थानिक विस्तार हुआ। नए-नए कॉलेज और विश्वविद्यालय खुले। नए क़िस्म के ये कॉलेज और विश्वविद्यालय आज़ादी के आसपास मौजूद कॉलेजों से कई मायनों में भिन्न थे। ये कॉलेज और विश्वविद्यालय बड़े-बड़े शहरों और प्रेसिडेंसी राजधानियों में न होकर अपेक्षाकृत छोटे शहरों-कस्बों, ज़िला-प्रमण्डल मुख्यालयों में थे। भूमि-सुधार क़ानून के लागू हो जाने से ग्रामीण परिवेश की शिथिलता कुछ तो कम हुई थी जिससे 'मझोली' कृषक जातियाँ आधुनिक शिक्षा की ओर अग्रसर हुई थीं। 'अगड़ी' जातियों के ग्रामीण तबक़े में भी शिक्षा की ओर रुझान मज़बूत हुआ : लड़के दूर शहरों में जाने लगे तो लड़कियाँ प्रायः आसपास के स्कूल-कॉलेज में। भारतीय भाषाओं के अख़बार नए-नए पाठकों तक पहुँचने लगे थे। सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह थी कि जनतांत्रिक चुनाव नई आकांक्षाओं को उद्वेलित करने लगे थे तथा एक नई क़िस्म की सामुदायिक प्रतिस्पर्धा के जनक बन चुके थे। 1960-70 के दशक में बने नए संस्थान भारतीय भाषाओं के माध्यम से वैसे लोगों को अपनी ओर खींचने लगे जो एक लम्बे अरसे तक अँग्रेज़ी के भय से त्रस्त थे– बहुतेरे इसी कारण मैट्रिक की दहलीज़ पार नहीं कर पाते थे। प्रकारान्तर से इसे स्वातंत्र्योत्तर भारत में उच्च शिक्षा के जनतांत्रिकरण की पहली लहर भी कहा जा सकता है।

उच्च शिक्षा के इन नए संस्थानों के गठन में सरकार की भी भूमिका रही, लेकिन ऐसे अनेक संस्थान स्थानीय प्रबुद्धजनों की पहल

पर भी खुले। इन स्थानीय पहलों को प्रायः समाज-सुधार, समाज-सेवा, जातीय कल्याण, शैक्षणिक-सांस्कृतिक विकास जैसे मुहावरों में अभिव्यक्त किया गया।

यह बात 1967 की है। एक सम्पन्न किसान ने अपनी कुछ ज़मीन दान देकर बिहार के मधुबनी ज़िले के एक छोटे-से गाँव त्रिमुहान में एक कॉलेज की स्थापना की— महाकवि कालिदास स्मारक महाविद्यालय, त्रिमुहान। उसी साल उस महाविद्यालय से दस किलोमीटर दूर एक दूसरा महाविद्यालय खुला— महाकवि विद्यापति स्मारक महाविद्यालय। नाम पर न जाएँ। ऐसा नहीं कि इस इलाक़े के लोगों में कविता के प्रति अथाह प्रेम है और क्लासिक कवि को वे ऐसे पूजते हैं जैसे फ़्राँसीसी लोग अपने दार्शनिकों को। चूँकि पहला कॉलेज भूमिहार कॉलेज के रूप में देखा गया तो प्रतिस्पर्द्धा में मैथिल ब्राह्मणों ने दूसरा कॉलेज खोल दिया। बहुत समय से बिहार में एक अनौपचारिक जातीय समझ चली आ रही है जहाँ विश्वविद्यालयों को ख़ास जातियों से जोड़कर देखा जाता है। जैसे पटना विश्वविद्यालय में यदि एक कायस्थ कुलपति नियुक्त होते हैं तो 'समावेशी' राज्य सरकार मुजफ्फरपुर की बाबासाहब भीमराव अम्बेदकर बिहार यूनिवर्सिटी में एक भूमिहार कुलपति और दरभंगा के मिथिला विश्वविद्यालय में एक मैथिल ब्राह्मण कुलपति नियुक्त कर तत्काल सामाजिक 'समीकरण' को दुरुस्त कर देती है। बहरहाल, कुछ साल बाद त्रिमुहान में स्थित इस कॉलेज को पास के एक दूसरे गाँव चंदौना में स्थानान्तरित कर दिया गया। चंदौना रेलवे लाइन किनारे बसा हुआ एक गाँव है जहाँ से पक्की सड़क भी गुज़रती है। चंदौना से पास के कस्बे पुपरी की दूरी मात्र पाँच किलोमीटर है इसलिए कॉलेज के संस्थापकों को लगा कि चंदौना में कॉलेज को स्थानान्तरित कर देने से कॉलेज में आसपास के अधिक विद्यार्थी आएँगे। चंदौना स्थानान्तरित हो जाने के बाद इस महाविद्यालय का नया नाम पड़ा— महाकवि कालिदास सूर्यदेव महाविद्यालय, त्रिमुहान-चंदौना। 1980 ई. में बिहार में सौ से ज़्यादा कॉलेज विभिन्न विश्वविद्यालयों की अंगीभूत इकाई बना दिए गए, यानी उनका सरकारीकरण हो गया। शिक्षकों-कर्मचारियों को राज्य सरकार द्वारा निर्धारित वेतनमान मिलने लगा। इन्हीं सौ महाविद्यालयों में त्रिमुहान-चंदौना कॉलेज भी था। अब यह कॉलेज मिथिला विश्वविद्यालय, दरभंगा की एक अंगीभूत इकाई है। आगे मैं इसी एक कॉलेज— महाकवि कालिदास स्मारक विश्वविद्यालय, त्रिमुहान-चंदौना के नामी-गिरामी प्रिंसिपल साहब का शब्द-चित्र संक्षेप में उकेरने की कोशिश करूँगा।

पहली बात यह कि प्रिंसिपल साहब भूमिहार थे, होना ही था चूँकि कॉलेज भूमिहारों का था। उन्हें भगवानपुर (ज़िला वैशाली, बिहार) से आमंत्रित कर चंदौना लाया गया जहाँ वे 'दर्शनशास्त्र' के प्राध्यापक थे। वे रहने वाले मुंगेर ज़िला के थे और उनका एमए पटना विश्वविद्यालय से था।

कालखण्ड : 1980-86; स्थान : चंदौना (दरभंगा-सीतामढ़ी की सीमा पर बसा गाँव) और उससे सटा पुपरी जिसका स्टेशन जनकपुर रोड के नाम से जाना जाता है और जो तब तक प्रखण्ड मुख्यालय था। पहली बात यह कि प्रिंसिपल साहब भूमिहार थे, होना ही था चूँकि कॉलेज भूमिहारों का था। उन्हें भगवानपुर (ज़िला वैशाली, बिहार) से आमंत्रित कर चंदौना लाया गया जहाँ वे 'दर्शनशास्त्र' के प्राध्यापक थे। वे रहने वाले मुंगेर जिला के थे और उनका एमए पटना विश्वविद्यालय से था। लम्बे थे, भरा-पूरा शरीर था, खादी पहनते थे। इसका ज़िक्र ज़रूरी है क्योंकि स्थानीय लोग उनका बखान बहुधा उनकी विशिष्ट क़द-काया से शुरू करते थे। भगवानपुर में रहते हुए एक बार विधान सभा का चुनाव भी लड़ चुके थे। चुनाव हार गए। उनके प्रतिद्वन्द्वी कांग्रेस के वरिष्ठ नेता एल पी साही

थे जो आगे चलकर दिल्ली में कैबिनेट मंत्री बने। प्रिंसिपल साहब अपने-आप को गाँधीवादी-सर्वोदयी मानते थे।

कार्यानन्द शर्मा एक यशस्वी प्रिंसिपल थे। कॉलेज में कक्षाएँ नियमित होती थीं। उन्होंने कॉलेज का काफ़ी विकास किया : आजकल की भाषा में इंफ्रास्ट्रक्चर का निर्माण किया– भवन, छात्रावास, खेल का मैदान, चारदीवारी इत्यादि। अमूमन यह सब उन्होंने घूम-घूम कर चन्दा लेकर किया, महज़ सरकारी अनुदान या यूजीसी के ग्रान्ट से नहीं। चन्दा उगाही की क्षमता तथा उसका कॉलेज की अधिरचना-निर्माण में निवेश उनकी प्रतिष्ठा व प्रसिद्धि के केन्द्र में था। प्रिंसिपल रहते हुए उन्होंने दो बड़े आयोजनों के लिए भी चन्दा इकट्ठा किया था: (1) बिहार दर्शन परिषद के त्रयोदश अधिवेशन के लिए जिसका आयोजन उनके कॉलेज में हुआ था; और (2) शान्ति-सेना के प्रान्तीय अधिवेशन के लिए जिसमें उस समय के जाने-माने गाँधीवादी-सर्वोदयी आचार्य राममूर्ति एवं विमला ठक्कड़ शरीक हुई थीं। कुछ उनके सहयोगी व सहकर्मी इस बात से नाराज़ रहते थे कि प्रिंसिपल साहब बेवजह पुपरी के माड़वाड़ी दूकानदारों के सम्मान में इज़ाफ़ा कर रहे हैं उनके घर जाकर यानी वे इन व्यवसायियों को कुछ ज़्यादा ही भाव देते हैं अर्थ संग्रह की ख़ातिर।

कॉलेज में प्रिंसिपल साहब ने काफ़ी कुछ किया जो नि:सन्देह प्रशंसनीय है। परन्तु मेरी रुचि उन चीज़ों को रेखांकित करने में है जो

चित्र : शिवेंद

कॉलेज और समुदाय के सम्बन्धों पर टीका-टिप्पणी करती हैं। जैसे– उन्होंने छुआछूत को ख़त्म करने के उद्देश्य से एक चतुर्थवर्गीय कर्मचारी की ड्यूटी स्टाफ़ रूम में लगा दी ताकि ज़्यादातर सवर्ण शिक्षक उसके हाथों जल ग्रहण कर अनुकरणीय मिसाल क़ायम करें। वह चतुर्थवर्गीय कर्मचारी उस जाति से आते थे जिसे 'ऊँची' जाति के लोग अछूत मानते रहे हैं। वे हमेशा साफ़ लिबास में रहते थे और सफ़ाई का पूरा ध्यान रखते थे। प्रिंसिपल साहब यह बताते अघाते नहीं थे कि वे मद्यपान और माँसाहार से परहेज रखते हैं। उक्त कर्मचारी हमेशा अपने गले में तुलसी की माला (कण्ठी) पहनते थे और प्रिंसिपल साहब कण्ठी व जनेऊ दोनों। फिर भी 'ऊँची' जाति के एक प्राध्यापक ने उसके गिलास से कभी जल ग्रहण नहीं किया। उक्त प्राध्यापक का रोष यह भी था कि वही शीशे का गिलास मुस्लिम प्राध्यापकों के ओठों को भी छूता है। हिन्दू माटी-मुस्लिम माटी की अपरिहार्य भिन्नता से आवेशित प्रोफ़ेसर साहब इसको हिन्दू रीति-रिवाज पर कुठाराघात समझते थे।

धीरे-धीरे प्रिंसिपल साहब ने कर्मचारियों की नियुक्ति को भी कुछ समावेशी बनाया। शुरुआती दौर में चतुर्थ श्रेणी के बहुतेरे कर्मचारी भी भूमिहार थे। सरकारी नौकरी की बात थी। उनके कार्यकाल में अलग-अलग जातियों और धर्मों के कर्मचारियों की नियुक्ति हुई। इनमें मुस्लिम, अनुसूचित और पिछड़ी कही जाने वाली जातियों के लोग थे। उन्होंने इसी श्रेणी में एक महिला की भी नियुक्ति की– गर्ल्स कॉमन रूम की देख-रेख के लिए। दो महिला प्राध्यापिकाएँ पहले से थीं। हालाँकि इस समावेशन की सीमा थी। अधिकांश प्राध्यापकों की नियुक्ति प्रिंसिपल साहब के कॉलेज में आने से पहले ही हो चुकी थी। प्राध्यापक अधिकांशतः भूमिहार और अन्य 'ऊँची' कही जाने वाली जातियों से ही थे। यदि आप कॉलेज को एक इकाई मानकर उसके सामाजिक चरित्र को बारीक़ी से देखेंगे तो पाएँगे कि वह एक प्रतिनिधि गाँव जैसा था जहाँ एक जाति-विशेष का वर्चस्व था, परन्तु और जातियों के भी एक-दो लोग थे जजमानी तंत्र के अन्तर्सम्बन्धों की मज़बूती के वास्ते।

यदि आप कॉलेज को एक इकाई मानकर उसके सामाजिक चरित्र को बारीक़ी से देखेंगे तो पाएँगे कि वह एक प्रतिनिधि गाँव जैसा था जहाँ एक जाति-विशेष का वर्चस्व था, परन्तु और जातियों के भी एक-दो लोग थे जजमानी तंत्र के अन्तर्सम्बन्धों की मज़बूती के वास्ते।

प्रिंसिपल साहब कुशल प्रशासक थे। कक्षाएँ सुचारु रूप से चलती थीं। कभी-कभी किसी शिक्षक के अनुपस्थित होने पर ख़ुद ही कक्षा में चले जाते थे। किसी विषय की भी कक्षा हो, हिन्दी-अँग्रेज़ी व्याकरण या तुलसीदास कृत रामचरितमानस पढ़ाकर छात्रों को पचास मिनट तक उलझाए रखते थे। अच्छे व्यवस्थापक या प्रबन्धक भी थे।

कॉलेज की तरफ़ से सरस्वती पूजा का आयोजन होता था। कार्यालय द्वारा छात्रों से चन्दा लिया जाता था बिलकुल शिक्षण शुल्क की तरह। परन्तु सारे छात्रों को इस अवसर पर आधा किलो बूँदी का पैकेट और गीताप्रेस गोरखपुर द्वारा प्रकाशित तुलसीदास कृत *रामचरितमानस* या *गीता* की एक प्रति मिलती थी– 'नित्य पाठ के लिए' उनके हस्ताक्षर के साथ। इस छोटी-सी बात की महत्ता को वही लोग आँक सकते हैं जिन्होंने सरस्वती पूजा आयोजन के वीभत्स रूप को देखा है। उस क्षेत्र में यह 'युवा-शक्ति' की विस्फोटक क्षमता का प्रतीक होता है : जबरन चन्दा वसूली, गुटबाज़ी, मार-पीट, नाच-गाना-शराब, सार्वजनिक शोर-गुल।

चूँकि कॉलेज ग्रामीण इलाक़े में था, क़रीब पच्चीस-तीस किलोमीटर की परिधि के गाँवों के पुरुष छात्र साइकिल चलाकर, बस और ट्रेन से
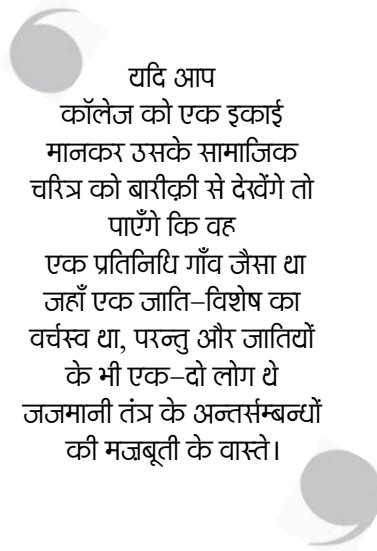
कॉलेज आया-जाया करते थे। वे सब तो प्रिंसिपल साहब को जानते ही थे, उनके माध्यम से उनके भिन्न-भिन्न गाँवों के बहुतेरे लोग भी उन्हें जानते थे। उनके लिए वे मात्र प्रिंसिपल ही नहीं थे, बल्कि वे उनके मार्गदर्शक, परामर्शदाता, प्रेरणा-स्रोत, रोल-मॉडल थे। इसी तरह अन्य लोग भी प्रिंसिपल साहब से जुड़े हुए थे जैसे– पुपरी के माड़वाड़ी दूकानदार। शादी-ब्याह-श्राद्ध आदि मौक़ों पर जब कभी किसी कर्मचारी-शिक्षक को उधार की ज़रूरत होती तो प्रिंसिपल साहब एक तरह से डिफ़ॉल्ट गारण्टर होते। ठण्ड के समय में स्थानीय खादी भण्डार के मैनेजर को बोलकर अपने कुछ निकट सहकर्मियों के लिए ऊनी कपड़ा या चादर भी उधार दिलवा देते थे। कभी-कभी सूद पर पैसे की व्यवस्था भी करवा देते थे। मतलब कि वे एक तरह से बहुतेरे परिवारों के मददगार भी थे। लोग उन्हें अपना शुभचिन्तक समझते थे और उनसे बेटे की पढ़ाई, बेटी की शादी या अवांछनीय प्रेम प्रसंग पर सलाह-मशविरा करते थे।

जैसे चंदौना के उनके एक प्रिय मित्र थे। सम्भ्रान्त-शालीन थे, हाई स्कूल के प्रधानाध्यापक थे। बहरहाल, उनका ज्येष्ठ पुत्र पटना जाकर इंजीनियरिंग में दाख़िले की तैयारी के दरम्यान इप्टा जैसे संगठन से जुड़ गया और नाटक-वाटक करने लगा। बात फैल गई कि श्याम बाबू का बेटा कम्युनिस्ट हो गया है। अब इस महामारी का इलाज प्रिंसिपल साहब जैसे ओझा (sorcerer) ही कर सकते थे। प्रिंसिपल साहब आनन-फ़ानन में पिता के साथ पटना पहुँचे और पुत्र से वार्तालाप किया। साम्यवाद की मान्यताओं, जटिलताओं और भारतीय संस्कृति से उसके मेल न खाने पर चर्चा हुई। इसी तरह एक पुपरी के समृद्ध माड़वाड़ी व्यवसायी थे। प्रिंसिपल साहब का अच्छा बनता था। स्थानीय स्तर पर उनका रिश्ता कुछ ऐसा ही था जैसा महात्मा गाँधी और जमनालाल बजाज का सेवाग्राम आश्रम वर्धा के सन्दर्भ में। प्रिंसिपल साहब की प्रेरणा से उन्होंने अपनी मेधावी बिटिया को वहाँ के एकमात्र हाई स्कूल में पढ़ाया, बाद में वह पटना वीमेंस कॉलेज गई। पुपरी हाई स्कूल लड़कों के लिए भी है और लड़कियों के भी लिए। अफ़सोस कि इस माड़वाड़ी छात्रा का एक भूमिहार लड़के से प्रेम हो गया। पारिवारिक मर्यादा, स्थानीय वर्ण-व्यवस्था व वर्ग-सम्बन्धों पर इसके दूरगामी प्रभाव को देखते हुए प्रिंसिपल साहब ने पहल की और मामले को रफ़ा-दफ़ा किया।

प्रिंसिपल साहब ईमानदार थे, घूस नहीं खाते थे। चाहते तो भवन निर्माण के क्रम में लाखों कमा सकते थे, परन्तु नहीं किया। पुस्तकालय के लिए पुस्तक क्रय में या प्रयोगशालाओं में उपकरण क्रय में कभी कमीशन नहीं खाया। चाहते तो कर सकते थे और ऐसा करते हुए भी अपना मान-सम्मान वर्चस्व बनाए रख सकते थे।

ध्यातव्य हो कि प्रिंसिपल साहब के पास अपार ऊर्जा थी, अदम्य उत्साह था और लोगों से घिरे रहने की मानो आदत हो गई थी। उन्होंने इसका सकारात्मक उपयोग किया कॉलेज निर्माण हेतु व अन्य गतिविधियों के जनक के रूप में। मसलन, उन्होंने प्रत्येक मंगलवार को रामचरितमानस पर एक गोष्ठी की शुरुआत की। उसमें सुन्दरकाण्ड की कुछ चौपाइयों का गान होता था ढोलक और हारमोनियम की संगति में। तदुपरान्त प्रिंसिपल साहब का एक संक्षिप्त प्रवचन होता था। गोष्ठी समाप्त होते वक़्त लोग हाथ उठाकर बोलते थे– जगत का कल्याण हो, गौमाता की रक्षा हो, आदि-आदि। हर सप्ताह एक नया परिवार इस गोष्ठी का आयोजन करता था। ख़र्च मामूली था– एक-दो किलो मिश्री प्रसाद के रूप में। दो बातें सामने आती हैं : पहली बात, वह शहरीकरण का उस इलाक़े में शुरुआती दौर था : लोग गाँव में एक पैर रखते हुए छोटे-छोटे शहरों में घर बना रहे थे, यानी एक बहुजातीय परिवेश उभर रहा था बिना ग्रामीण जीवन की निश्चितता (certitude) के। ऐसे में प्रिंसिपल

साहब की मंगलवारी गोष्ठी सम्बन्धों का नया संजाल बुनने में सहायक हुई– छोटे-मझोले नौकरी पेशा लोग, व्यापारी-व्यवसायी, स्थानीय सम्भ्रान्तजन 'हिन्दू संस्कृति' के नवसर्जित सूत्रों के उन्नयन में अपना योगदान देने की सीमित क़ाबिलियत हासिल कर पाए– जातीय विविधता के बावज़ूद। दूसरा, प्रिंसिपल साहब एक मायने में राजनीतिक जीव थे। उन्हें हमेशा एक मंच चाहिए था। कॉलेज था, परन्तु उनके व्यक्तित्व को देखते हुए काफ़ी नहीं था। वह महज़ एक प्रिंसिपल नहीं थे। वे एक नई ज़मीन के निर्माता थे। बेशक, एक ज़मीन जो स्थानीयता को समेटते हुए उससे परे चली जाती थी, उसको जीवन, समाज, राजनीति, धर्म के व्यापक सरोकारों से जोड़ती थी। उन्हें हस्तक्षेप करना पसन्द था, लेकिन ऐसा नहीं है कि उनके हस्तक्षेप की सीमाएँ नहीं थीं। सीमाओं के बावज़ूद उसमें एक आलोड़न की क्षमता थी। वह आलोड़न एक गाँव, एक ख़ास कॉलेज, एक ख़ास कस्बे से आबद्ध नहीं था। सेवानिवृत्ति के बाद वे हनुमान आराधना मण्डल से जुड़ गए। पुपरी की मंगलवारी गोष्ठी प्रान्तीय हिन्दू अस्मिता के उत्थान की एक सहधारा थी।

प्रिंसिपल साहब ईमानदार थे, घूस नहीं खाते थे। चाहते तो भवन निर्माण के क्रम में लाखों कमा सकते थे, परन्तु नहीं किया। पुस्तकालय के लिए पुस्तक क्रय में या प्रयोगशालाओं में उपकरण क्रय में कभी कमीशन नहीं खाया। चाहते तो कर सकते थे और ऐसा करते हुए भी अपना मान-सम्मान वर्चस्व बनाए रख सकते थे। उस क्षेत्र में सरकारी पैसा खाना कुछ ज़्यादा अनैतिक नहीं माना जाता है। उल्टे आपकी तारीफ़ होती है। हमारे गाँव के इंजीनियर साहब को काफ़ी प्रतिष्ठा मिली जब उन्होंने कई सिंचाई परियोजनाओं का पैसा मारकर गाँव में एक आलीशान बँगला खड़ा किया। प्रिंसिपल साहब मितव्ययी थे : सादगी से रहते थे, सादा शाकाहारी खाना खाते थे। बचत की बदौलत और अपनी माँ की ख़्वाहिश के मुताबिक़ उन्होंने अपने पैतृक गाँव में अच्छा-ख़ासा पक्का मकान बनवाया था।

बहुत लोग उनकी मितव्ययिता का मज़ाक उड़ाते थे। एक प्रोफ़ेसर साहब का कहना था कि पैसा बचाना उनकी मजबूरी है क्योंकि उन्हें एक बड़ा परिवार चलाना है। अपनी तमाम सूझ-बूझ के बावजूद प्रिंसिपल साहब ने अपने बेटे की शादी सोलह साल की उम्र में ही कर दी थी। नतीजा यह कि उनका बेटा विधि का छात्र था मुजफ्फरपुर में, साथ में चार बच्चों का पिता भी। ख़र्चा प्रिंसिपल की आय से ही चलता था। बहुत दिनों तक उनके पास कोई मोटर वाहन नहीं था। कॉलेज रिक्शा से आया-जाया करते थे। सर्वोदयी-समाजवादी थे, परन्तु लोहिया के साइकिल रिक्शा पर न चढ़ने की ज़िद से परहेज रखना एक तरह की मजबूरी थी। उनका वजन एक क्विन्टल के आसपास था। इस कारण रिक्शा चालक को भाड़े के रूप में एक-दो रुपया ज़्यादा देते थे।

प्रिंसिपल साहब उस देश-काल के सन्दर्भ में हमारे लिए एक बड़े आदमी थे। वे हमारे स्कूल के आयोजनों में मुख्य अतिथि के तौर पर आते थे। अच्छा बोलते थे– गाँधी-बिनोवा-जयप्रकाश के बारे में। वे मूल रूप से सतत विघटनशील जनता पार्टी के क़रीब थे। उन्होंने आन्दोलनों में शिरकत की थी। इस कारण एक राजनीतिक पैनापन भी था। मैंने उनके घर भागलपुर से सांसद रहे गाँधीवादी दार्शनिक व विचारक श्री रामजी सिंह को ठहरते देखा है। रामजी सिंह एक ही जोड़ा धोती-कुरता रखते थे और प्रिंसिपल साहब के यहाँ अपनी पुत्री हेतु सुयोग्य भूमिहार वर ढूँढ़ने के क्रम में आए थे, परन्तु उनसे मिलने आसपास के कांग्रेसी विधायक भी आते थे। कई कार्यक्रम में भाकपा के नेता व सांसद कामरेड योगेन्द्र झा भी उनके कॉलेज आया-जाया करते थे। हम लोगों ने पहली बार कामरेड झा और डॉ. रामजी सिंह को दर्शन परिषद के अधिवेशन के दौरान अँग्रेज़ी में बोलते सुना। बिना कुछ समझे-जाने हम लोग मंत्रमुग्ध थे। बाद में पता चला कि वे लोग साम्यवाद-गाँधीवाद की आपेक्षिक विशिष्टताओं पर बहुत गहराई में जाकर बहस कर रहे थे। यह भान, कि ऊँचे स्तर के बौद्धिक विमर्श का 'सहज' माध्यम अँग्रेज़ी है, पहली बार हुआ।

वैसे ही उनके द्वारा आयोजित शान्ति सेना शिविर से हमने एक आन्दोलन में विद्यमान

'लीडरशिप' (leadership) व 'रैंक एंड फ़ाइल' (rank & file) के आपसी रिश्तों को समझा। ज़्यादातर स्वयंसेवकों का काम बाहर से आए विशिष्ट अतिथियों की सुविधा का ख़्याल रखना और श्रोता-वृन्द बनना था। कहते हैं कि उस छोटे-से शहर में सुश्री विमला ठक्कड़ के लिए उपयुक्त आवास की व्यवस्था के लिए प्रिंसिपल साहब को काफ़ी मेहनत करनी पड़ी थी : कोई होटल नहीं था, ढंग का कोई मकान भी नहीं, जहाँ बम्बई से आईं उन गाँधीवादी नेता को ठहराया जा सके। अन्त में जालान अतिथि भवन के एक कमरे को बजरंग बाबू के सौजन्य से सुसज्जित किया गया।

बाद में प्रिंसिपल साहब हनुमान आराधना मण्डल के बड़े-बड़े आयोजनों में जाने लगे। परन्तु वहाँ उनकी भूमिका बहुधा विशिष्ट अतिथि की थी, आयोजक की नहीं। प्रिंसिपल साहब की मंगलवारी गोष्ठी व प्रवचन ने तुलसीदास व उनके *रामचरितमानस* को एक नई जीवन्तता दी। वैसे भी उस क्षेत्र के जनमानस में तुलसी व *रामचरितमानस* काफ़ी लोकप्रिय हैं। प्रिंसिपल साहब की बौद्धिकता ने उस लोकप्रियता को नए रूप में गढ़ा, सजाया-सँवारा और प्रकारान्तर से धर्म के सार्वजनिक दिखावेपन को मज़बूत किया।

'धूत कहो, अवधूत कहो; रजपूत कहो, जोलहा कहौ कोऊ...' को उद्धृत करने वाले प्रिंसिपल साहब न तो अपने निजी पारिवारिक जीवन में जाति व्यवस्था की सीमाओं को लाँघ पाए और न ही ऐसी ज़मीन तैयार कर पाए जो जाति व्यवस्था को एक हद से अधिक लचीला कर पाए। गाँधीवादी प्रिंसिपल साहब ने प्रचलित रीति-रिवाजों एवं शादी-ब्याह, जनेऊ-उपनयन, मुण्डन-पूजा के इर्दगिर्द विद्यमान परम्पराओं को कभी नकारा नहीं, बल्कि अपनी सहभागिता से अनुमोदित ही किया।

प्रिंसिपल साहब बहुत बड़े विद्वान भले ही न हों, वहाँ के हिसाब से सुपठित थे व कुशल वक्ता थे। वैसे मोतीलाल बनारसीदास ने उनकी एक पुस्तक 'भारतीय दर्शन के मूल संप्रत्यय' प्रकाशित की है। उनका पीएचडी भी अधूरा ही रहा– गाँधीवादी दर्शन पर वे एक शोध प्रबन्ध लिख रहे थे।

कई मायने में प्रिंसिपल साहब ने उस क्षेत्र की चेतना-भित्ति को गहराई तक प्रभावित किया। उनकी मृत्यु के साथ पुपरी-चंदौना में एक युग का अन्त हो गया। प्रिंसिपल साहब की गतिविधियों ने, उनके नेतृत्व ने एक सिविक स्पेस बनाया जिसकी गुंजाइश उस परिवेश में नहीं या कम थी। यह सच है कि राष्ट्रीय आन्दोलन और जनतांत्रिक चुनावों में ऐसी प्रक्रियाओं का शुभारम्भ कर दिया था, परन्तु उसको पोषित करने की ज़रूरत थी– ऐसे कई मंचों का प्रिंसिपल साहब ने सृजन किया जहाँ लोग अपनी जाति या गाँव की रूढ़ अस्मिता को लाँघ पाए। इसी क्रम में ऐसा लगने लगा कि उनका कॉलेज राज्य द्वारा आरोपित कोई बाहरी संस्था नहीं है बल्कि समुदाय-समाज का अवयवी अंग है।

दूसरी बात कि अपने तमाम तुलसीवादी आग्रहों के बावजूद वे साम्प्रदायिक नहीं थे। शादी-विवाह के मामलों में जाति के दायरे का अतिक्रमण उन्होंने कभी नहीं किया, लेकिन किसी का अहित भी इस कारण नहीं करते थे कि वह आदमी उनकी जाति का नहीं था। प्रिंसिपल साहब में जिस हद तक वैचारिक उदात्तता थी, उस हद तक भी वैचारिक उदारता उस इलाके के पढ़े-लिखे लोगों में प्रायः नहीं थी। उनको देखते-सुनते सामाजिक-राजनीतिक आन्दोलनों के उच्चादर्शों का अहसास होता था, परिवर्तनकामी चेतना की झलक मिलती, किसी सीमा तक लोक कल्याण का आदर्श झलकता था।

मणीश ने जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय से समाजशास्त्र में एमए और गोवा विश्वविद्यालय से पीएचडी की है। इन दिनों मणीश इंडियन इंस्टिच्यूट ऑफ़ मैनेजमेंट, कोलकाता में 'पब्लिक पॉलिसी और मैनेजमेंट' के प्रोफ़ेसर हैं। समाजशास्त्र के क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण योगदान के लिए उन्हें एम एन श्रीनिवास मेमोरियल पुरस्कार, राधा कमल मुखर्जी मेमोरियल और वी के आर वी पुरस्कार से सम्मानित किया गया है। ग्रामीण विकास की नीतिगत और कार्यालयी चर्चाओं में 'गाँव' की बनने वाली छवियों पर इन्होंने शोध-प्रबन्ध लिखा है।
सम्पर्क : इंडियन इंस्टिच्यूट ऑफ़ मैनेजमेंट, कोलकाता। डायमण्ड हार्बर रोड, जोका, कोलकाता-700104, mt@iimcal.ac.in

दुनिया को दहलाता एक अदृश्य जैविक कण

भोलेश्वर दुबे

कोरोना शब्द से आज सभी वाक़िफ़ हैं। यह एक वायरस है जिसने पूरी दुनिया को हिला रखा है। इसको लेकर एक भय भी है लेकिन साथ ही इसके बारे में जानने की जिज्ञासा भी है कि यह है क्या? यह लेख इसी सन्दर्भ में है। पहले हिस्से में लेख बताता है कि वायरस कैसे होते हैं? क्या ये सजीव होते हैं अथवा निर्जीव? किसके बने होते हैं? लेख इन अतिसूक्ष्म कणों के विकास के बारे में भी बात करता है और फिर बताता है कि नोवेल कोरोनावायरस क्या है? इसकी रचना कैसी है? यह शरीर में कैसे प्रवेश करता है और कैसे बढ़ता है? हालाँकि यह सब समझना बहुत आसान नहीं है लेकिन यह लेख जिस तरह से इस सन्दर्भ में चर्चा करता है, उससे वायरस और वायरसजनित रोगों के बारे में समझने में काफ़ी मदद मिलती है। सं.

आज पूरी दुनिया एक अदृश्य आतंक से सहमी हुई है। किसी ने भी अपने जीवन काल में ऐसी आपदा का सामना नहीं किया होगा। वैसे विश्व के अलग-अलग देशों में यदा-कदा भूकंप, तूफ़ान, बाढ़, सुनामी आदि प्राकृतिक आपदाएँ आती ही रही हैं और सीमित क्षेत्रों में बीमारियाँ भी होती रही हैं, किन्तु कुछ समय बाद स्थितियाँ पूर्ववत सामान्य हो जाती थीं, किन्तु इस बार कुछ ऐसा घटित हो रहा है जो चौंकाने वाला है। यह आपदा किसी भौगोलिक क्षेत्र विशेष तक सीमित न होकर वैश्विक है। और इसके पीछे क्या कारण है, यह हर आम और ख़ास जान रहा है। आज बच्चे भी यह भली-भाँति जानते हैं कि यह एक वायरस का प्रकोप है। ऐसा नहीं कि वायरस से होने वाली यह पहली बीमारी हो। इससे पहले भी मनुष्य, जीव-जन्तुओं और पौधों में वायरस से होने वाली बीमारियों की एक लम्बी फ़ेहरिस्त मौजूद है। मानवीय बीमारियों को ही लें तो सामान्य सर्दी-जुकाम, डेंगू, चेचक (जो अब नहीं होती), ख़सरा, रेबीज़, पोलियो, हेपेटाइटिस, कुछ प्रकार के कैंसर और एड्स जैसी कई बीमारियाँ वायरस की ही देन हैं।

वायरस का अस्तित्व और उसकी रचना

वायरस का अस्तित्व और उसकी रचना लम्बे अरसे तक वैज्ञानिकों के लिए रहस्य बना रहा। 19वीं सदी में सबसे छोटे रोगकारक बैक्टीरिया ही माने जाते थे, क्योंकि उस समय बैक्टीरिया से छोटी संरचनाओं को देख पाना असम्भव था। फिर भी 1883 में जर्मन वैज्ञानिक एडोल्फ़ मेयर द्वारा तम्बाकू की पत्तियों पर होने वाले मोज़ेक रोग पर किए गए साधारण प्रयोगों ने वायरस की समझ विकसित करने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई। चूँकि उस समय अत्यन्त सूक्ष्म संरचनाओं को देख पाने की सुविधा नहीं थी, अतः पोर्सिलिन के बने बैक्टीरियल छन्नों से वायरस संक्रमित तम्बाकू की पत्तियों के रस को छानने और प्रयोगशाला में किए गए प्रयोगों द्वारा वायरस के आकार और कुछ अन्य गुणों का अनुमान लगाया
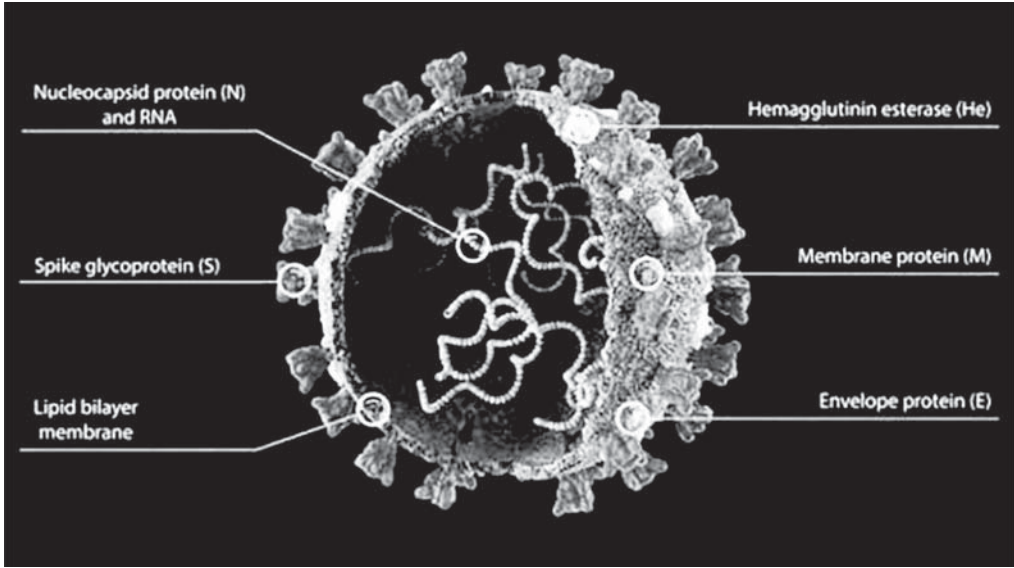
गया। इसी कड़ी में मार्टिनस बीजेरिंक का मानना था कि तम्बाकू की पत्तियों पर मोज़ेक रोग करने वाली संरचनाएँ बैक्टीरिया से भी छोटी और सरल हैं, जिनकी प्रतिकृतियाँ बनती रहती हैं। विषाणु की बारीक़ियों को समझने के लिए अमरीकन वैज्ञानिक वैन्डले स्टेन्ली की शोध ने नई दिशा दी। उन्होंने 1935 में संक्रमण करने वाले कणों के रवे बनाने में सफलता पाई। इस उपलब्धि के लिए उन्हें नोबेल पुरस्कार से भी नवाजा गया। इसी के बाद वायरस की प्रकृति को लेकर एक अन्तहीन विवाद शुरू हो गया। इस विवाद का मुख्य विषय रहा कि वायरस को सजीव मानें या निर्जीव? लक्षणों की कसौटी पर कसने पर हम पाते हैं कि विभिन्न जन्तुओं, पौधों और बैक्टीरिया में परजीवी की तरह रहते हुए रोग उत्पन्न करना, आनुवंशिक पदार्थ (आरएनए या डीएनए) की उपस्थिति और अपने जैसे कई वायरस कणों का उत्पादन करने की क्षमता रखना, आदि जैसे गुण जहाँ एक ओर इन्हें सजीवों की श्रेणी में रखने की वकालत करते हैं, वहीं इनमें अन्य कोशिकीय जीवों की तरह श्वसन नहीं होता और इनमें ख़ुद की चयापचय क्रियाविधि और वृद्धि का भी अभाव पाया जाता है। साथ ही इनके रवे बनाए जा सकते हैं। इन गुणों के आधार पर इन्हें निर्जीव श्रेणी में रखे जाने की हिमायत की गई। कुल मिलाकर ये प्रकृति की विस्मयकारी संरचनाएँ हैं। सरल शब्दों में कहें तो 'वायरस वे संक्रामक कण हैं जिनमें एक प्रोटीन के आवरण में आनुवंशिक पदार्थ बन्द रहता है'।

आकार में वायरस बहुत छोटे होते हैं, इन्हें नग्न आँखों से और साधारण सूक्ष्मदर्शी से नहीं देखा जा सकता। सबसे बड़े वायरस का आकार 750 नैनोमीटर (nm) होता है (1nm =10 की पॉवर माइनस 6 मिलीमीटर यानी एक मिलीमीटर का 10,00,000वाँ भाग)। इनकी संरचना बहुत ही सरल होती है। वायरस का बाहरी आवरण प्रोटीन का बना होता है जो अपने अन्दर आनुवंशिक पदार्थ न्यूक्लिक अम्ल को बन्द कर उसकी सुरक्षा करता है। न्यूक्लिक अम्ल आरएनए या डीएनए होता है। एक वायरस में कभी भी दोनों न्यूक्लिक अम्ल एक साथ नहीं पाए जाते। आरएनए और डीएनए के एक या दो सूत्र उपस्थित हो सकते हैं। इसी के आधार पर इन्हें क्रमश: एसएसआरएनए, एसएसडीएनए, डीएसडीएनए, डीएसआरएनए कहते हैं। आकार, पोषक में होने वाले रोग के अतिरिक्त न्यूक्लिक अम्ल का प्रकार वायरस की पहचान और वर्गीकरण में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाता है। इसी के साथ कई वायरसों में आवरण के बाहर एक झिल्ली के रूप में फ़ास्फ़ोलिपिड का खोल भी

पाया जाता है। इस झिल्ली के बनने में पोषक की कोशिका झिल्ली का ही हाथ होता है। कई बार इनमें वायरस के प्रोटीन और ग्लाइकोप्रोटीन भी पाए जाते हैं। यह खोल वायरस द्वारा पोषक के संक्रमण में मदद करता है।

सभी वायरस की एक और ख़ासियत यह है कि वे जीवित पोषक की अनुपस्थिति में पूर्णतः निष्क्रिय कणों के रूप में रहते हैं, किन्तु जैसे ही ये अपने पोषक की कोशिकाओं के सम्पर्क में आते हैं वैसे ही ये पोषक कोशिका में प्रवेश कर अपने प्रतिकृतिकरण और गुणन की प्रक्रिया शुरू कर देते हैं। यदि हम सामान्य सर्दी-जुकाम के वायरस का ही उदाहरण लें तो इसमें भी आरएनए के एक सूत्र के साथ आवरण के ऊपर खोल होता है। खोल के ग्लाइकोप्रोटीन पोषक कोशिका के ग्राही अणुओं से जुड़ जाते हैं, इसके बाद वायरस का आवरण और आनुवंशिक पदार्थ पोषक कोशिका में प्रवेश कर जाते हैं। पोषक के जीवद्रव्य में उपस्थित एंजाइम वायरस के आवरण को गला देते हैं और वायरस का जीनोम मुक्त हो जाता है। यहाँ से कहानी दिलचस्प हो जाती है क्योंकि वायरस का जीनोम अब खलनायक की भूमिका में आ जाता है। यह आवश्यक एंजाइम की मदद से वायरस के आनुवंशिक पदार्थ के गुणन के लिए आरएनए की प्रतिकृतियाँ बनाता है। इन पूरक आरएनए सूत्रों से वायरस के नए जीनोम की प्रतिकृतियाँ बनती हैं। ये आरएनए सूत्र सन्देशवाहक के रूप में भी कार्य करते हुए पोषक कोशिकाओं में वायरस के आवरण का निर्माण भी करते हैं। कुल मिलाकर एक बार पोषक कोशिका में वायरस का प्रवेश होते ही वह उसकी सम्पूर्ण आनुवंशिक कार्यप्रणाली और प्रोटीन संश्लेषण प्रक्रिया को हथिया लेता है। ऐसी स्थिति में पोषक कोशिका अपने कार्यात्मक और आनुवंशिक कार्यों की दृष्टि से पूर्णतया पंगु हो जाती है। इस पूरे घटनाक्रम के परिणामस्वरूप पोषक कोशिका अपना अस्तित्व खो देती है और उससे कई नए वायरस कण मुक्त हो जाते हैं। कई मामलों में वायरस के पोषक में प्रवेश करने के बाद लम्बे अरसे तक वायरस बिना लक्षण प्रकट किए पोषक कोशिकाओं में गुप्त अवस्था में पड़े रह सकते हैं। ऐसी स्थिति में, वायरस का जीनोम पोषक के जीनोम के साथ में एक सह-सम्बन्ध स्थापित कर लेता है। कुछ विशेष परिस्थितियों में जब यह सम्बन्ध टूटता है तो पोषक के अन्दर रोग के लक्षण उभरने लगते हैं और इसी के साथ पोषक से वायरस मुक्त होने लगते हैं। इसका एक अच्छा उदाहरण हरपीज़ वायरस है। बड़ी संख्या में मुक्त हुए ये वायरस कण नई कोशिकाओं को संक्रमित करते जाते हैं और उसी पोषक में अथवा नए पोषकों में यह संक्रमण फैलता जाता है।

अत्यन्त सूक्ष्म और सरलतम संरचना वाले वायरस कई प्रकार के संक्रामक रोगों के कारक हैं। प्रत्येक वायरस की एक निश्चित पोषक सीमा है। मतलब यह कि इनके पोषक मोटेतौर पर तय होते हैं और ये उन्हीं पोषकों को संक्रमित करते हैं। एक विशेष प्रकार का वायरस अपने तय पोषकों को ही संक्रमित कर सकता है, सभी जीवों को नहीं। यह अपने पोषक तक स्पर्श, वायु, शारीरिक संसर्ग, रक्त और कीटों आदि के द्वारा एवं पशु-पक्षियों के माध्यम से पहुँचते हैं।

सूक्ष्म जैविक कणों का विकास

एक प्रश्न वैज्ञानिकों को लम्बे समय से परेशान करता रहा है कि इन अति सूक्ष्म जैविक कणों का विकास कैसे हुआ होगा? वायरस की विशेषता यह है कि यह वास्तव में सजीवों की परिभाषा के अनुरूप नहीं है क्योंकि पोषक के बाहर वायरस जैविक रूप से निष्क्रिय रहते हैं और अपनी ऊर्जा आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए एटीपी का निर्माण नहीं कर सकते। साथ ही अपने जीनोम का प्रतिकृतिकरण करने में भी असमर्थ होते हैं। मगर इनके पास वैश्विक भाषा में लिखा हुआ एक आनुवंशिक कार्यक्रम होता है, जैसा कि संसार के सभी जीवों में पाया जाता है। इस स्थिति में वायरस को प्रकृति का सबसे जटिल आण्विक संयोजन मानें या जीवन का सरलतम रूप, यह अभी भी अबूझ पहेली है। जो भी हो, इनमें आनुवंशिक कोड की उपस्थिति इनके जीव

जगत से विकसित होने और गहरे आपसी रिश्तों की ओर इशारा करती है।

मूल प्रश्न यह भी है कि शुरुआत में वायरस किस प्रकार उत्पन्न हुए होंगे? वायरस जीव-जन्तुओं, पेड़-पौधों से लगाकर सूक्ष्म बैक्टीरिया जैसे सभी जीव रूपों को संक्रमित करते हैं। इससे यह बात तो तय है कि ये अपने संख्यात्मक विकास के लिए जीवित कोशिकाओं पर पूरी तरह निर्भर हैं। इसका तात्पर्य यह हुआ कि वायरस कोशिका से पहले के किसी जीव स्वरूप में अस्तित्व में नहीं आए, बल्कि इनका विकास पहली कोशिका के उत्पन्न होने के बाद ही हुआ होगा। अधिकांश जीव वैज्ञानिक इस परिकल्पना के पक्ष में हैं कि वायरस कोशिकीय न्यूक्लिक अम्ल के छोटे-छोटे नग्न अंशों से उत्पन्न हुए जो शायद कोशिका की क्षतिग्रस्त सतह से एक कोशिका से दूसरी कोशिका में पहुँच सकते हों। बाद में आवरण प्रोटीन की जीन कोडिंग का विकास हो जाने से वायरस कोशिका झिल्ली से बँधने में सक्षम हुए और पूरी तरह स्वस्थ अक्षतिग्रस्त कोशिकाओं का संक्रमण आसान हो गया।

वायरस के जीनोम के मूल स्रोत प्लाज़्मिड और ट्रांसपोसोन्स हैं। प्लाज़्मिड बैक्टीरिया और यीस्ट में पाए जाने वाले गोल डीएनए अणु होते हैं। यह गुणसूत्रीय डीएनए से अलग छोटे डीएनए के टुकड़े होते हैं जिनका स्वतंत्र रूप से प्रतिकृतिकरण हो सकता है और इनका दो कोशिकाओं के बीच स्थानान्तरण भी सम्भव है। ट्रांसपोसोन्स भी डीएनए के टुकड़े हैं जो कोशिका के जीनोम में अपना स्थान परिवर्तन कर सकते हैं। इससे एक बात तो स्पष्ट होती है कि प्लाज़्मिड, ट्रांसपोसोन्स और वायरस, तीनों में एक बात समान है कि यह सभी गतिशील आनुवंशिक पदार्थ हैं।

इस पूरी खोज में एक और महत्त्वपूर्ण पक्ष सामने आया कि वायरस का जीनोम संक्रमित किए जाने वाले पोषक के जीनोम से समानता रखता है, बजाय अन्य वायरस के जीनोम से जो दूसरे पोषकों को संक्रमित करते हैं। इसके विपरीत अभी-अभी कुछ वर्षों में वायरस की जीन श्रृंखलाओं से ज्ञात हुआ है कि कुछ वायरसों की आनुवंशिक श्रृंखला कई दूरस्थ सम्बन्धित वायरसों से बहुत कुछ मिलती-जुलती है। ऐसे उदाहरण मिले हैं कि कुछ जन्तु वायरसों की आनुवंशिक श्रृंखला पौधों के वायरसों से मेल खाती है। यह आनुवंशिक समानता दर्शाती है कि विकास के प्रारम्भिक दौर में प्राकृतिक चयन ने वायरस और उसके पोषक के जीन के कुछ समूहों का साथ दिया और उन्हें स्थायित्व प्रदान किया। अभी भी नित नए वायरस खोजे जा रहे हैं। उनमें से कुछ तो आकार में असामान्य रूप से बड़े हैं। सभी वायरसों का विकासीय अध्ययन अभी तक एक बड़ी चुनौती के साथ ही कौतूहल का विषय भी बना हुआ है।

कोरोनावायरस

आज पूरी दुनिया को तबाह कर देने वाले दुर्दान्त कोरोनावायरस की थोड़ी पड़ताल की जाए तो पता चलता है कि इस समूह के कई वायरस पहले से ही मनुष्य और अन्य जीव-जन्तुओं में रोग उत्पन्न करते रहे हैं। इनके द्वारा स्तनधारियों और पक्षियों में निमोनिया, आंत्रशोथ, गुर्दे, मस्तिष्क और जनन तंत्र सम्बन्धित रोग होते रहे हैं। कोरोनावायरस का संक्रमण अकसर

सूअर, घोड़ों, गाय, भैंस, बिल्ली, कुत्ते, चूहे, पक्षियों और चमगादड़ में पाया जाता है। यह जीव वायरस के भण्डार के साथ कई बार वाहक के रूप में कार्य करते हैं। सामान्यतः ये वायरस अपने तय पोषकों को ही संक्रमित करते हैं, किन्तु कुछ विशेष परिस्थितियों में यह अन्य पोषकों को संक्रमित करने के लिए भी अनुकूलित हो जाते हैं। ऐसी परिस्थिति में संक्रमण भयावह स्थितियाँ निर्मित कर देता है और उनसे निपटना मुश्किल हो जाता है। इससे पहले भी कोरोना समूह के दो वायरस कई मनुष्यों की जान ले चुके हैं। ये हैं– सार्स (सीवियर एक्यूट रेस्पिरेट्री सिंड्रोम) और मर्स (मिडिल ईस्ट रेस्पिरेट्री सिंड्रोम)।

यह वायरस परिवार कोरोनावायरस के नाम से जाना जाता है। 'कोरोना' एक लैटिन शब्द है जिसका उपयोग सम्मानस्वरूप या वैभव के प्रतीकस्वरूप सिर पर पहने जाने वाले फूलों के अलंकरण से है, जिसे आज हम मुकुट या ताज कह सकते हैं। इसी के साथ सूर्य और चन्द्रमा से फैलता किरणों का आभामण्डल भी कोरोना कहलाता है। ऐसा प्रतीत होता है कि जब पहली बार वैज्ञानिकों ने इलेक्ट्रॉन सूक्ष्मदर्शी के द्वारा इस वायरस को देखा होगा, तो उन्हें इसकी रचना सूर्य आभा या मुकुट के समान दिखी होगी! वैज्ञानिकों के इसी सौन्दर्य बोध के कारण इनका नामकरण कोरोनावायरस के रूप में हुआ होगा, किन्तु आज उन सुन्दर दिखने वाली परासूक्ष्म संरचनाओं के काले पक्ष से सम्पूर्ण मानव जाति संकटापन्न स्थिति में है।

दिसम्बर 2019 में चीन के वुहान प्रान्त में वायरस के संक्रमण की ख़बरें आना शुरू हुईं। यह कोरोनावायरस से होने वाला संक्रमण ही था। कोरोनावायरस का यह संक्रामक नया प्रकार नोवेल कोरोनावायरस 'कोविड–19' के नाम से विख्यात हो गया। यह खोलयुक्त एकसूत्रीय आरएनए वायरस है। इसके खोल पर खूँटियों जैसे ग्लाइकोप्रोटीन के उभार निकले रहते हैं जिन्हें स्पाइक कहा जाता है। 'कोविड–19' का जीनोम अन्य वायरसों की तुलना में बड़ा होता है। यह 26.4 से 31.7 किलो बेस का है। कोरोनावायरस के जीनोमयुक्त आरएनए में लगभग 30,000 न्यूक्लियोटाइड होते हैं, जो वायरस के विभिन्न प्रोटीनों को कोड करते हैं।

जैसे ही वायरस पोषक कोशिका के सम्पर्क में आता है, वैसे ही वायरस के स्पाइक पोषक कोशिका के ग्राहियों से जैव रासायनिक जान–पहचान बढ़ाना शुरू कर देते हैं। कुछ ही देर में स्पाइक पोषक से जुड़ जाते हैं। पोषक कोशिका की ओर वायरस को आकर्षित करने और जुड़ने में ACE2 (एंजियोटेंसिन कन्वर्टिंग एंजाइम 2) की प्रमुख भूमिका पाई गई है।

मेडजीनोम इनकॉरपोरेशन (MedGenome Inc.) और साइंस जीनोम रिसर्च फ़ाउण्डेशन (SGRF) ने 'कोविड–19' के प्रति संवेदनशीलता के अध्ययन के लिए 400 अलग–अलग आबादियों के 3,00,000 से भी अधिक व्यक्तियों के डीएनए क्रमों का संयुक्त रूप से अध्ययन करने पर पाया कि ACE2 प्रोटीन जीन की उपस्थिति व्यक्तियों को 'कोविड–19' के लिए संवेदनशील बनाती है। वहीं ACE2 जीन में हुए कुछ परिवर्तन मनुष्य को कोविड–19 के संक्रमण से बचा भी सकते हैं।

कोविड–19 का संक्रमण होने पर ठण्ड लगना, बुखार, खाँसी, पेचिश और निमोनिया होना सामान्य लक्षण हैं, मगर कई संक्रमित व्यक्ति कोई लक्षण प्रकट नहीं करते हैं। अगर हम यह समझने में सफल हो जाते हैं कि क्यों कुछ व्यक्ति अन्यों की तुलना में इस वायरस से बहुत बुरी तरह प्रभावित होते हैं तो हमें इसके ख़तरों से निपटने में मदद मिल सकती है।

नोवेल कोरोनावायरस (कोविड–19) को सार्स–कोव–2 (SARS–COV–2) के नाम से भी जाना जाता है। यह मानव कोशिका की सतह पर पाए जाने वाले प्रोटीन ACE2 से बँधकर कोशिका में प्रवेश करता है। वायरस के लिए ACE2 ही कोशिका में पहुँचने का मुख्य द्वार है। कोविड–19 के बहुत संक्रामक होने के पीछे एक प्रमुख कारण यह भी है कि इसका ACE2 के प्रति अत्यधिक लगाव है, इसके बजाय सामान्य सार्स वायरस में यह प्रीति कम पाई गई है। वैज्ञानिकों

ने पाया कि मानव कोशिका से बँधने में मदद करने वाले वायरस के स्पाइक प्रोटीन में अब तक कई उत्परिवर्तन हो चुके हैं। इसी का परिणाम है कि अब यह ACE2 से 10 से 15 गुना अधिक क्षमता से जुड़कर गम्भीर संक्रमण को अंजाम दे रहा है।

चित्र : अनिल सिंह
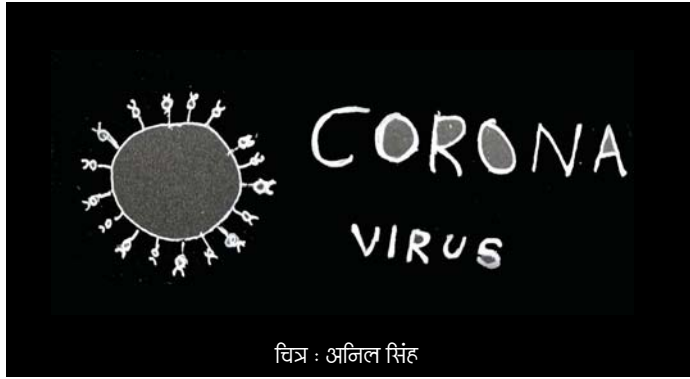
भारतीय वैज्ञानिक भी सार्स-कोव-2 वायरस के जीनोम क्रम का अध्ययन करने में जुटे हैं। उन्होंने पाया कि भारत में जो सार्स-कोव-2 वायरस का प्रभेद है, उसके NSP3 जीन में नया उत्परिवर्तन हुआ है। वर्तमान स्थिति में वैश्विक स्तर पर इस वायरस में लगातार और बार-बार परिवर्तन हो रहे हैं। सबसे पहले ये परिवर्तन मार्च 2020 में पता चले। इसके पहले जनवरी में वुहान से इकट्ठा किए गए नमूनों में यह परिवर्तन नहीं थे। इसी से अन्दाज़ा लगाया गया कि वायरस के प्रभेद में उत्परिवर्तन हो रहा है।

चीन की यात्रा से लौटे रोगियों में वैज्ञानिकों ने कोविड-19 के L और S दो प्रभेदों का संक्रमण पाया। इसमें से L प्रभेद बहुत आक्रामक है। चीन में जनवरी के बाद L प्रभेद के द्वारा संक्रमण में कमी आई जबकि अपवादों को छोड़ दें तो आज पूरे विश्व में S प्रभेद द्वारा ही बहुतायत में संक्रमण हो रहा है, जो अपेक्षाकृत कम घातक है।

भारत में अभी वायरस में कई उत्परिवर्तन हो रहे हैं, जिनका प्रभाव संक्रमण के पश्चात विभिन्न परिवर्तनों के रूप में दिख सकता है। दुनियाभर के वैज्ञानिक अपने-अपने तरीक़ों से इस महामारी से निपटने के उपाय ढूँढ़ने में जुटे हुए हैं क्योंकि वैज्ञानिक यह भली-भाँति जानते हैं कि वायरस का मानव कोशिका पर स्वागत करने वाला महत्त्वपूर्ण प्रोटीन ACE2 ही है। यही वायरस को कोशिका में प्रवेश करने में मदद करता है अतः 'कोविड-19' से निपटने के लिए पुनर्संयोजन द्वारा ACE2 में परिवर्तन कर इस संक्रमण के विरुद्ध इसे हथियार के रूप में इस्तेमाल किया जा सकता है। ACE2 में परिवर्तन वायरस को धोखा भी दे सकता है, फलस्वरूप वे अपने ग्राही की पहचान करने में असमर्थ हो सकते हैं। वैज्ञानिकों का मानना है कि परिवर्तित ACE2 का उत्पादन उसी प्रकार किया जा सकता है जैसा कि मधुमेह के मरीज़ों के उपचार के लिए इंसुलिन का किया जाता है। गम्भीर रूप से संक्रमित रोगियों को ACE2 का उपचार दिया जा सकता है, जहाँ यह कोशिका से अलग स्थान पर वायरस को अपने ऊपर चिपकाकर और संग्रहित कर पोषक कोशिकाओं की रक्षा कर सकेगा।

सभी अन्य वायरसों की तरह कोविड-19 से मुक़ाबला करने के लिए व्यक्ति का प्रतिरक्षा तंत्र मज़बूत होना चाहिए। यदि संक्रमित व्यक्ति स्वयं वायरस के विरुद्ध एंटीबॉडी बनाने में सक्षम हो तो वह इस रोग से बचा रहेगा, अन्यथा प्रतिरक्षा तंत्र को मज़बूत करने के लिए उपयुक्त दवाइयाँ या भविष्य में इस वायरस से लड़ने के लिए बनने वाले टीके ही मनुष्य को रोग प्रतिरोधी बना सकते हैं।

चिकित्साशास्त्र का मूलभूत नियम वायरसजन्य संक्रामक रोगों से बचने के लिए भी लागू होता है 'Prevention is better than cure', अर्थात 'उपचार से बेहतर है बचाव'। इस नियम का पालन इस संक्रमण के लिए भी किया जाना बहुत ज़रूरी है। चूँकि कोविड-19 वायरस का

संचरण मानव से मानव के सम्पर्क और नाक व मुँह के द्वारा निकलने वाले द्रवों से होता है अतः संक्रमित व्यक्तियों, संक्रमित पदार्थों और वस्तुओं के सम्पर्क में आने से बचना ही लाभदायक है।

रोगजनक चाहे वायरस, बैक्टीरिया, कवक, प्रोटोजोआ के सदस्य या कोई अन्य सूक्ष्मजीव क्यों न हों मूलतः संक्रमण की दृष्टि से बहुत शक्तिशाली होते हैं। ये सूक्ष्मजीव न केवल जीव विशेष को संक्रमण द्वारा प्रभावित करते हैं बल्कि ये जीव समुदाय पर बड़े पैमाने पर असर डालते हैं, परिणामस्वरूप जैव समुदाय की रचना और संगठन में भी बदलाव होने लगता है। संसार के सभी जीव-जन्तु और पेड़-पौधे किसी-न-किसी रोगजनक से संक्रमित होते ही हैं, किन्तु धीरे-धीरे वे उस रोग के लिए प्रतिरोधक क्षमता विकसित कर लेते हैं। किसी रोग के लिए कोई जीव समुदाय कुछ समय के लिए ही प्रतिरोधी हो सकता है क्योंकि सूक्ष्मजीव भी अपने स्तर पर और अधिक उग्र प्रभेद बनाने में सक्षम होते हैं जिससे कालान्तर में अधिक घातक संक्रमण फैलता है। कुल मिलाकर रोगजनक और पोषक के बीच लुकाछिपी और ज़ोर आज़माइश का खेल शुरू से होता रहा है और आगे भी चलता ही रहेगा। वर्तमान कोविड-19 संक्रमण में लगातार हो रहे उत्परिवर्तन भी रोगजनक और पोषक के शक्ति परीक्षण का ही प्रमाण हैं। फिलहाल वायरस का पलड़ा भारी है। पिछले 3 माह में हम अनुभव कर चुके हैं कि कुछ चुनिन्दा देशों से प्रारम्भिक स्तर पर शुरू हुआ यह संक्रमण देखते-ही-देखते पूरे विश्व के अधिकांश देशों में अपने पैर पसारकर उन देशों को तबाह कर चुका है। शायद किसी को कल्पना भी नहीं होगी कि इतनी सूक्ष्म अदृश्य जैविक संरचना दुनियाभर को कई मोर्चों पर हिलाकर रख देगी! अभी तक बड़ी जनहानि तो हो ही चुकी है और यह क्रम अभी भी जारी है। इसी के साथ सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक, मनोवैज्ञानिक और कई अन्य समस्याएँ मुँह बाए खड़ी हैं, जिनसे निपटना एक बहुत बड़ी चुनौती है।

'कोविड-19' महामारी के अकल्पनीय वैश्विक दुष्परिणामों के साथ चीन का नाम भी इतिहास के काले पन्नों में जुड़ गया है, चाहे वहाँ से यह वायरस प्राकृतिक रूप से या मानवीय भूलवश ही दुनियाभर में क्यों न फैला हो?

● सभी चित्र इंटरनैट से साभार

भोलेश्वर दुबे, प्राध्यापक एवं विभागाध्यक्ष वनस्पतिशास्त्र माता जीजाबाई शा. स्नातकोत्तर कन्या महाविद्यालय से सेवानिवृत्त। विज्ञान शिक्षा में नवाचार एवं शिक्षक प्रशिक्षण में सक्रिय। पर्यावरण और जनविज्ञान लेखन में रुचि।
सम्पर्क : dubebholeshwar@gmail.com

ऑनलाइन शिक्षण और उसके निहितार्थ

शचीन्द्र आर्य

इस अप्रत्याशित समय में एक तरफ़ सारा विश्व एक वैश्विक संक्रामक महामारी से बाहर निकलने के रास्ते तलाश रहा है। विश्व स्वास्थ्य संगठन और बाक़ी राष्ट्रीय संस्थाएँ कोरोना से बचाव के तरीक़ों पर लगातार निर्देश दे रही हैं। दूसरी तरफ़ शिक्षा के क्षेत्र से जुड़े लोगों के लिए यह समय नए प्रश्नों और चुनौतियों को उनके सामने लाया है। ऐसे समय में जबकि विद्यालय अनिश्चित काल के लिए बन्द कर दिए गए हैं, 'ऑनलाइन शिक्षण' एक विकल्प के रूप में उभर रहा है और हम अपने आसपास बहुत तेज़ गति से इसे विस्तार पाता हुआ देख रहे हैं।

इस लेख में हम कक्षा, शिक्षण विधि, अध्यापक की भूमिका, अध्यापक और विद्यार्थी के बीच बन रहे सम्बन्ध और उनके बीच हो रही अन्तर्क्रिया आदि बिन्दुओं को टटोलते हुए इस विषय पर अपनी समझ बनाने का प्रयास करेंगे।

पुरानी कक्षा

हम कक्षाओं को जिस रूप में देखते आ रहे हैं, उस ढाँचे का निर्माण भले औपनिवेशिक समय में हुआ हो, यह एक व्यवस्था के रूप में आज भी शैक्षिक कार्य व्यापार में अपना महत्त्वपूर्ण स्थान रखती हैं। यह कक्षाएँ कितनी सुविधापूर्ण हैं, कितनी अभावग्रस्त हैं, इस अधूरे प्रश्न में हमें कई प्रश्नों और दृष्टियों को मिलाना होगा, तब जाकर हम इन कक्षाओं का मूल्यांकन कर पाने में सक्षम होंगे। आज हम इसपर चर्चा न करते हुए वापस विषय पर लौटते हैं। हमारे हिस्से भी कभी-न-कभी ऐसे चित्र या व्यक्तिगत अनुभव आए होंगे, जहाँ चारदीवारी न हो, भीतर आने और जाने के लिए कोई दरवाज़ा न हो, बैठने के लिए बेंच न हों, बच्चे बोरे और पल्ली डालकर पेड़ या खुले आसमान के नीचे मिट्टी के फ़र्श पर बैठे हुए हों और अध्यापक एक कुर्सी पर टिकाए गए श्यामपट्ट पर कुछ काम करवा रहे हों, यह भी अपनी संरचना में एक कक्षा है। न्यूनतम स्तर पर होने के बावजूद यह कक्षा अध्यापक और विद्यार्थियों को एक दूसरे से अन्तर्क्रिया करने के अवसर देती है। यहाँ विद्यार्थियों को आपस में घुलने-मिलने का मौक़ा मिलता है। यह कक्षा सैद्धान्तिक रूप में चालीस-पचास मिनट की एक पाली पूर्वनिर्धारित विषय को पढ़ने के लिए दोनों पक्षों को मानसिक

रूप से तैयार करती है। प्रतिदिन बनता हुआ यह क्रम उनके लिए एक नियम की तरह ख़ुद को दोहराता है।

शिक्षा का समाजशास्त्र इस कक्षा को समाज का प्रतिरूप कहता है। उसके लिए यह कक्षा भविष्य की भावी भूमिकाओं के लिए विद्यार्थियों को तैयार करती है। यह भूमिकाएँ रूढ़िबद्ध भी हो सकती हैं और परिवर्तनकामी भी। वह इस कक्षा में एक जगह से चलकर इस दूसरी जगह तक आते हैं। इसे एक संस्था (परिवार) से चलकर एक दूसरी संस्था (विद्यालय) में आना भी कहा जा सकता है। वह जिस सफ़र को पैदल, साइकिल, गाड़ी और बस आदि से रोज़ तय करते हैं, वह यात्रा उनके अनुभव संसार का विस्तार करती है। वह आसपास की दुनिया से अन्तर्क्रिया कर पाते हैं। रास्ता जाना पहचाना होने के बावजूद यह अनुभव इकहरा नहीं होता। उन्हें रोज़ नए अनुभव करने का अवसर मिलता है। इस अर्थ में हम विद्यालय और विद्यालय में भी अपनी कक्षा तक पहुँचने की प्रक्रिया को कमतर करके नहीं आँक सकते। इस समय जबकि सबकुछ रुक गया है, यह प्रक्रिया भी अवरुद्ध हुई है। इस बात को भी रेखांकित किया जाना चाहिए। चर्चा में क्रमशः आगे बढ़ते हुए हम इसपर दोबारा आएँगे।

हो सकता है, एक क्षण के लिए कुछ पाठकों को यह चर्चा अतीत में ठहरी हुई लगने लगे। यह समाज के मूल्यों, आग्रहों का पुनरुत्पादन करने वाली कक्षा के कोरे सपाट वर्णन का भ्रम भी उन्हें दे सकती है। वह थोड़ी देर धैर्य रखें। अभी मेरे सामने प्रश्न है, यह कक्षाएँ इस आपात काल में जिस तरह ख़ुद को पुनर्परिभाषित करने का प्रयास कर रही हैं, हमें यह टटोलना होगा कि क्या इससे पहले कभी इतिहास में या हमारे समकालीन वर्तमान में विद्यालय इस तरह अनिश्चित काल के लिए बन्द किए गए हैं? हमें यह समझना होगा, आज हमारे सामने जिस तरह की आपात परिस्थितियाँ हैं और हम जिस तरह इसमें विद्यालय, कक्षा और शैक्षिक प्रक्रियाओं पर बात करना चाहते हैं, क्या अतीत में घटित हुई समस्याओं के बाबत हम इसी तरह प्रतिक्रिया देने के लिए ख़ुद को वहाँ उपस्थित पाते हैं?

इसे थोड़ा सरल करें, तब यह बात और सहजता से समझ में आने लगेगी।

हम पाते हैं, एक तरफ़ जिस तरह इस वैश्विक स्वास्थ्य संकट को देखते हुए विद्यालयों को अनिश्चित काल के लिए बन्द कर दिया है। ऐसी स्थिति में पढ़ाई का नुक़सान न हो इस बात को ध्यान में रखते हुए प्रशासन ने अभी भी किसी-न-किसी रूप में इस 'कक्षा' को बन्द नहीं किया है। प्रश्न बस इतना-सा है कि क्या इससे पहले कभी ऐसा हुआ है, जब विद्यालय और कक्षा में यह अन्तर इतनी स्पष्टता से किया गया हो? अर्थात जिस तरह का विभेद इस संक्रमण के फैलाव को देखते हुए 'विद्यालय' और 'कक्षा' में दिख रहा है और किया जा रहा है, क्या इससे पहले भी ऐसा हुआ है। या तब 'विद्यालय' और 'कक्षा' में विभेद को सामने न लाकर विद्यालय बन्द करने का अर्थ सभी तरह की शैक्षिक प्रक्रियाओं का स्थगन माना गया। हमें इस चर्चा में विभेदीकरण की प्रक्रिया को भी ध्यान में रखना होगा।

इस अन्तर को समझे बिना हम इस विमर्श को समझ नहीं पाएँगे। यह संकट इसलिए भी अभूतपूर्व है क्योंकि इसने इतने बड़े स्तर पर विद्यालयों को बन्द करने के लिए सरकार को विवश कर दिया और देश के भीतर अप्रैल से प्रारम्भ होने वाले सत्र में विद्यार्थियों की पढ़ाई का नुक़सान न हो, इसके लिए प्रावधान खोजे जाने लगे। यह अतिरिक्त संवेदनशीलता ही नए तरह की कक्षाओं को बना रही है, जिसके बारे में अगले खण्ड में हम बात करने जा रहे हैं।

नई कक्षा

हमें यह ध्यान रखना होगा, हम ऐसी कक्षा के बारे में बात करने जा रहे हैं, जो 'लॉक डाउन' के बीच अपने अस्तित्व में आती है। एक तरफ़ सत्र ख़त्म नहीं हुआ था। विद्यार्थी

अभी पिछली कक्षाओं की परीक्षाएँ दे रहे थे। इस संकट के आ जाने के बाद कक्षा आठ तक के विद्यार्थियों को 'शिक्षा के अधिकार' के नियमों के अन्तर्गत अगली कक्षाओं में भेज दिया गया। कक्षा नौ और ग्यारह के लिए हर राज्य अपने-अपने स्तर पर प्रावधान कर रहे हैं। जिस जगह मैं रहता हूँ वहाँ ऐसी स्थितियों में परीक्षा लेने में आ रही व्यावहारिक समस्याओं को देखते हुए कुछ उपबन्धों के बाद वार्षिक परीक्षा परिणाम घोषित कर दिए गए हैं और जो छात्र-छात्राएँ किसी विषय में विफल या अनुत्तीर्ण पाए गए हैं, उन्हें उन विषयों की परीक्षा को दोबारा देने का एक अतिरिक्त अवसर दिया गया है। इधर बोर्ड कक्षाओं की परीक्षाओं को लेकर केन्द्रीय माध्यमिक शिक्षा बोर्ड ने भी अपने दिशा निर्देश जारी कर दिए हैं।

एक नई समाजशास्त्रीय श्रेणी के रूप में जो सबसे पहला प्रश्न हमारे सामने उपस्थित होता है, वह है— इन नई तरह की कक्षाओं में 'प्रवेश' की प्रक्रिया क्या है? जैसा कि हम परिचित हैं, पुरानी कक्षाओं में जहाँ विद्यार्थी अपने घर से चलकर विद्यालय पहुँचते थे, यह समय एक नई तरह की कक्षाओं की निर्मिति कर रहा है। यह कक्षाएँ अध्यापक और विद्यार्थियों के लिए भी उतनी नई हैं। यहाँ का ढाँचा पुरानी कक्षा के मुक़ाबले बिलकुल अलहदा है।

अध्यापक और विद्यार्थी दोनों पक्षों का इस कक्षा में प्रवेश 'तकनीक' की मध्यस्थता से सम्भव हो पाएगा। यह तकनीक सूचना और संचार प्रौद्योगिकी पर आश्रित है। आप इसका सरल अर्थों में अनुवाद टच स्क्रीन मोबाइल फ़ोन, कम्प्यूटर, लैपटॉप और टैबलेट आदि कर सकते हैं। यही सब यंत्र 'ऑनलाइन शिक्षण' को सम्भव बनाते हैं।

देखने में यह बहुत सरल व्यवस्था लग सकती है। जहाँ अध्यापक और विद्यार्थी दोनों उक्त 'गैजेट' का इस्तेमाल करते हुए इस प्रक्रिया में सहभागी बन सकते हैं। अध्यापक 'गूगल क्लासरूम' में अपनी योजना के अनुसार पाठ्य सामग्री विद्यार्थियों को भेज सकते हैं। वह 'ज़ूम मीटिंग' पर सुविधानुसार पूर्वनिर्धारित समय पर वीडियो क्लास ले सकते हैं। कुछ बड़ी वैश्विक कम्पनियों के दबाव में किसी एप्लीकेशन के बारे में नकारात्मक समाचार आने लगें, तब आप 'गूगल मीट' का निश्चिन्त होकर प्रयोग कर सकते हैं। जहाँ आपको विश्वास दिलाया जा चुका है, उसका इस्तेमाल करते हुए किसी भी प्रकार से डेटा में सेंध नहीं लगाई जा सकती। कुछ दिनों में आप यह मानने लगते हैं।

एक अध्यापक की जगह स्वयं को रखकर जब थोड़ा ठहरकर सोचने लगता हूँ, तब यहाँ इन कक्षाओं में कुछ नई तरह की विषमताएँ और समस्याएँ जन्म लेती हुई दिखने लगती हैं। ऐसा नहीं है, भौतिक रूप से विद्यालय में स्थित पुरानी कक्षा के भीतर किसी भी प्रकार की विषमता या समस्या नहीं थी। न मेरा किसी भी तरह से यह मानना है कि वहाँ जाति, धर्म, सम्प्रदाय, भाषा, क्षेत्र और लिंग-आधारित पूर्वाग्रहों और धारणाओं से ग्रसित अध्यापकों को, जिनमें मैं ख़ुद को भी शामिल मानता हूँ, दोषमुक्त मान लिया जाए और हमारी पुरानी कक्षाएँ हर तरह से समता, समानता और न्याय के संवैधानिक मूल्यों को पोषित करती हुई आदर्श कक्षाएँ बन गई हैं। नहीं। ऐसा बिलकुल नहीं है। मुझे लगता है पुरानी कक्षाओं पर विपुल आलोचनात्मक साहित्य का उपलब्ध होना, उन्हें अलग तरह से बुनता है। हमें उनके साथ इन नई कक्षाओं के

भीतर व्याप्त असमानता और न्याय के प्रश्नों को अभी से टटोलना शुरू कर देना चाहिए। यहाँ अभी हम केवल नई कक्षाओं को केन्द्र में रखकर अपनी बात को आगे बढ़ाएँगे।

नई कक्षा में प्रवेश

जैसा कि हम पहले भी इस बात को रेखांकित कर चुके हैं कि सबसे मूलभूत प्रश्न इस नई कक्षा में प्रवेश को लेकर खड़ा होता है। हम सब बहुत अच्छी तरह से जानते हैं, हमारे देश के बहुसंख्यक विद्यार्थी सरकारी विद्यालयों में शिक्षा ग्रहण करते हैं। यह उनके लिए चुनने का प्रश्न है या उनकी विवशता, यह भी बहुत स्पष्ट है। वह जिन परिवारों से आते हैं, वहाँ से इस तरह की कक्षा में आना उनके लिए बहुत कठिनाई भरा अनुभव बनकर रह जाता है।

इन नई कक्षाओं में विद्यार्थी का प्रवेश बहुत ही जटिल प्रक्रिया है। चाहे यह प्रवेश मोबाइल जैसे साधारण दिखने वाले यंत्र के ज़रिए हो, उसे इस्तेमाल करने के लिए थोड़ा-बहुत तकनीकी ज्ञान और कौशल उनमें पहले से होना अनिवार्य है। पहले पहल, एक स्मार्ट मोबाइल फ़ोन की उपलब्धता बहुत विकट परिस्थितियों का निर्माण करती है। दूसरे, अगर वह घर में उपलब्ध है, तब एक अर्थ में घर की निर्मिति में उसपर किसका नियंत्रण रहता है, इन बिन्दुओं को हमें देखना होगा। मान लीजिए, एक घर में भाई और बहन दोनों की कक्षाएँ उस मोबाइल फ़ोन पर हो रही हैं, तब कौन उसे इस्तेमाल करेगा, यह बात समझना बहुत मुश्किल काम नहीं लगता है। थोड़ी देर के लिए हम एक आदर्श घर की कल्पना भी कर लें और घर में पिता भाई और बहन को अपनी-अपनी कक्षा के काम के लिए बराबर समय देकर इस समस्या को हमारे लिए हल भी कर दें, तब भी एक और समस्या वहाँ लगातार बनी रहती है, वह है उस मोबाइल फ़ोन पर अबाध इंटरनेट सेवा की उपलब्धता की। 'लॉक डाउन' जैसी स्थिति में जबकि परिवार के पास आय के कोई अन्य साधन न हों, बचत से ही घर चलाया जा रहा हो, यह स्थिति बहुत-से विद्यार्थियों ने भोगी होगी, इसमें कोई दो राय नहीं है। उनके अनुभव इससे भी बदतर रहे होंगे। ऐसा अनुमान किया जा सकता है।

इन प्रश्नों की कई और परतें हो सकती हैं, जिनपर लगातार विचार करते रहने की आवश्यकता है।

कक्षा की व्याप्ति

यहाँ हमें यह ध्यान रखना होगा, इस पूरी प्रक्रिया में यह नई कक्षाएँ विद्यालय से निकलकर उनके घरों में स्थानान्तरित हो गई हैं। घर, जहाँ सरकार द्वारा जारी निर्देशों के बाद सभी सदस्यों को इसी के भीतर रहना है। क्या हम घर के माहौल को एक मोबाइल या लैपटॉप के ज़रिए एक कक्षा में परिवर्तित कर सकते हैं? इसका जवाब बहुत कठिन है। फिर भी हमें पता है, जैसा कि विद्यालय की कक्षा में चालीस या पचास मिनट की एक घण्टी में अध्यापक भले कुछ भी न कर पाता हो, पर वह समय एक विषय के लिए सुनिश्चित है। इसे अध्यापक और विद्यार्थी दोनों जानते हैं। जबकि यहाँ दोनों पक्षों द्वारा अपने-अपने घर में रहते हुए इस कक्षा को बनाने की कोशिश करनी पड़ती है। ऐसी स्थिति में वह उस घर को किस तरह की 'कक्षा' मान रहे होंगे?

भले यहाँ दृष्टि बहुत पुराने ढंग से काम कर रही हो, पर यही सच है। आप ख़ुद को कक्षा में महसूस नहीं कर पाते। एक अध्यापक के लिहाज़ से इस बिन्दु पर आकर, उसे हर विद्यार्थी से व्यक्तिगत रूप से कुछ बातें पूछनी होती हैं। उसके चेहरे के हावभाव से वह उसकी मनःस्थिति का कुछ आभास तो लगा ही पाते हैं। वह समय और परिस्थिति के अनुसार अपनी शैक्षिक युक्तियों को बदलते हैं, उनमें कुछ और बातें जोड़ने की कोशिश करते हैं। घर बैठकर बनाई गई इस कक्षा की इस रचना में वह किस तरह इस सम्बन्ध को बना पाएँगे, यह बहुत बड़ा प्रश्न है।

दूसरी बात, जो बच्चा आज विद्यालय की कक्षा में नहीं आया, वह दो-चार-दस दिन बाद

कक्षा में आ सकता है। उसे वर्दी और बस्ता लेकर विद्यालय आ जाना है। यहाँ वह 'स्मार्टफ़ोन' के साथ इस 'कक्षा' में शामिल होगा। अगर वह ऐसा कर पाने में अक्षम होता है, तब उसकी यह अनुपस्थिति बहुत लम्बी होने वाली है।

मानवीय सम्बन्धों की परिधि

यह नई कक्षा जिस तरह उभर रही है, वह सम्बन्धों को किस तरह प्रभावित करेगी या उन्हें बनाएगी, यह एक लम्बा वक़्त बीत जाने के बाद हमारे सामने होगा। लेकिन आज यह एक ऐसी व्यवस्था को पोषित कर रही है, जहाँ आपसी सम्बन्धों के लिए प्रत्यक्ष रूप से आमने-सामने रहने की कोई आवश्यकता नहीं है। सतह से देखने पर बहुत सरलता से हम महसूस कर सकते हैं, यहाँ अध्यापक और विद्यार्थी के बीच एक सम्बन्ध है भी तो वह बहुत सहज, स्वाभाविक और मानवीय नहीं है। यह विद्यार्थियों के लिए भी एक अधूरा अनुभव है।

हम अपने अनुभव से जानते हैं, विद्यालय की कक्षा में यह मौक़े स्वतः बन जाते हैं। विद्यालय की कक्षा वह जगह है, जहाँ अध्यापक और विद्यार्थी प्रतिदिन शैक्षिक गतिविधियों में संलग्न रहते हैं। अध्यापक अपने विषय के इतर भी विद्यार्थियों को मार्गदर्शन और प्रोत्साहन देते हैं, उनसे सीखते हैं। वह अपने अनुभव से विद्यार्थियों की समस्याओं को सुलझाने का प्रयास भी करते देखे जा सकते हैं। यही कक्षा सहपाठियों को आपस में मिलने जुलने, एक-दूसरे की मनःस्थिति को जानने और उनपर बात करने का अवसर देती है।

वर्तमान में जिस तरह यह नई कक्षा समाजशास्त्रीय श्रेणी बनकर सामने आई है, वहाँ यह अवसर किस तरह बनेंगे, इसे अभी से बता पाना इतना आसान नहीं है। हमें यह भी देखना होगा, जिस तरह कक्षा में विद्यार्थी एक साथ मिलकर, बच्चे आपस में एक दूसरे की बातों को सुनकर उनकी क्रियाओं को देखकर और वहाँ मौजूद रहकर सीखते हैं, यहाँ उस तरह के अवसर और सम्भावनाओं को किस तरह से बुना जाएगा। क्या कुछ अध्यापक इन बिन्दुओं पर सोचना शुरू कर चुके हैं या वह किसी उत्तर की तरफ़ बढ़ रहे हैं?

ऐसा प्रतीत होता है, शिक्षणशास्त्र को निकट भविष्य में इसके उत्तरों की तलाश ज़रूर करनी होगी।

इस तरह की नई कक्षा में यह भी देखने वाली बात है कि यहाँ जितने विद्यार्थी हैं, वह अपने घरों में रहकर अध्ययन कर रहे हैं। इस शिक्षण प्रक्रिया में उनके साथी, उनके परिवार के सदस्य हैं। वह चाहकर भी सहपाठियों की जगह नहीं ले सकते। जिस तरह एक कक्षा में रहते हुए विद्यार्थी कुछ साथियों से मित्रता करते हैं, कुछ का साथ उन्हें अच्छा नहीं लगता। कुछ भावों को हमउम्र होने के नाते आपस में बाँटना सीखते हैं। एक दूसरे की बातों को सुनते हैं। कुछ से ईर्ष्या करते हैं। कुछ से प्रतियोगिता का भाव भीतर जागता है। ऐसे अवसर परिवार के साथ रहने पर किस तरह बन पाए होंगे? इसके साथ हमें यह भी देखना होगा, परिवार के सदस्यों के साथ इतना लम्बा वक़्त साथ बिताने की बाध्यता ने उनपर व्यावहारिक और मानसिक रूप से क्या प्रभाव डाला है? इन सम्बन्धों पर यह समय उनके भीतर किस तरह प्रतिक्रिया दे रहा है? परिवार के साथ उनके सम्बन्ध किस तरह पुनर्परिभाषित हुए हैं?

यह बात भी रेखांकित की जानी चाहिए कि दूसरी तरफ़ बैठे अध्यापक अपने घर से इन शैक्षिक गतिविधियों को संचालित करने का प्रयास कर रहे हैं। उनसे लगातार एक समान ऊर्जा के साथ 'घर से काम' करने की अपेक्षा रहती है। इससे काम करने की क्षमता और उनके मानसिक स्वास्थ्य पर क्या प्रभाव पड़ रहा है? हमें देखना होगा, उनके सामने किस तरह की चुनौतियाँ और समस्याएँ आईं। वह ख़ुद को अपने परिवार के बीच रहते हुए किस तरह अध्यापक की भूमिका में ला पाते होंगे? क्या यहाँ भी लैंगिक विविधता कुछ नए अनुभवों को बना रही है? क्या महिला अध्यापिकाओं के लिए 'घर से विद्यालय के काम' करना अधिक जटिल बन जाता है? वह घर और विद्यालय के काम के बीच किस तरह सन्तुलन बना पाई होंगी? क्या पुरुष अध्यापकों के पास ऐसी कोई समस्या और चुनौती नहीं आई होगी? हमें इन सभी प्रश्नों को चर्चा के केन्द्र में लाना होगा।

अगर हम चाहें, तब भी इन सभी बिन्दुओं और प्रश्नों पर अभी कोई तयशुदा बात कह नहीं पाएँगे। यह 'नई कक्षा' इन विषयों पर मौन है। हो सकता है, निकट भविष्य में या ऐसी असहज, अस्वाभाविक और विकट परिस्थिति में लम्बा वक़्त गुज़ारने के बाद कुछ बातें स्पष्ट हो पाएँ। हम तब शायद नए सिरे से बन रहे इन सम्बन्धों और प्रक्रियाओं को बेहतर तरीक़े से समझ पाएँ। ऐसी स्थिति में बहुत संवेदनशील होकर आगे बढ़ने की आवश्यकता है।

शिक्षण प्रक्रिया और अधिगम

हमें इस विषय पर बात करने से पहले यह ध्यान रखना चाहिए कि इस नई कक्षा के लिए वही पाठ्यचर्या, पाठ्यक्रम और पाठ्यपुस्तक आदि निर्धारित हैं, जो विद्यालय की कक्षाओं के लिए स्वीकृत थीं। वर्तमान परिस्थिति में यह शिक्षण प्रक्रिया 'मल्टीमीडिया के उपकरण' जैसे 'मोबाइल' या 'कम्प्यूटर' और 'लैपटॉप' की सहायता से संचालित की जा रही हैं। इसके लिए अध्यापक और विद्यार्थी दोनों को पहले से एक जगह तय करनी होगी, जहाँ कक्षा के सभी विद्यार्थी एक साथ उपस्थित हों और बाक़ी प्रक्रियाएँ प्रारम्भ की जा सकें।

यह जगह, जिसे हम 'नई कक्षा' कह रहे हैं, यह किसी एप्लीकेशन के उपयोग द्वारा बनाई जा सकती है। यह 'व्हॉट्सएप' का कोई ग्रुप हो सकता है। इसे 'गूगल क्लासरूम' पर विद्यार्थियों के ई-मेल आईडी को जोड़कर बनाया जा सकता है। आप किसी 'कॉर्पोरेट मीटिंग एप' पर अपनी क्लास को लाइव वीडियो के रूप में रख सकते हैं, जिसमें विद्यार्थी सक्रिय रूप से सहभागी बन सकते हैं। अध्यापक इसके लिए 'ज़ूम' का उपयोग कर रहे थे लेकिन सरकार की तरफ़ से दिशा निर्देश आने के बाद वह इसका उपयोग करने से बचने लगे हैं।

इस प्रक्रिया को फिर से दोहराने का एक तात्पर्य यह भी है कि हम यह जान लें, अध्यापक और विद्यार्थी इस 'नई कक्षा' को कहाँ सृजित कर रहे हैं। ध्यान से देखिए यह कहाँ है। अब हम 'कैसे' वाले सवाल पर लौटते हुए 'प्रक्रिया' को जानने का प्रयास करेंगे। यहाँ इस खण्ड में एक साथी अध्यापक के अनुभव से कुछ बातें रखूँगा।

वह अनौपचारिक बातचीत में कई बार इस बात को कह चुके हैं कि उनके लिए एक अध्यापक के तौर पर इस वैकल्पिक व्यवस्था को कक्षा की तरह स्वीकार कर पाना बहुत कठिन रहा है। जिस कक्षा में सभी विद्यार्थी उपस्थित न हों और उनकी अनुपस्थिति एक विषमता को जन्म दे रही हो, जिसपर हम ऊपर संकेत कर चुके हैं, यह कहीं से भी एक सन्तोषजनक स्थिति नहीं कही जा सकती। उनके मन में यह विचार स्थाई भाव की तरह बना रहता है कि कुछ विद्यार्थी उनकी इस कक्षा से बाहर रह गए हैं। हम सहज ही यह अनुमान लगाकर समझ सकते हैं कि सीखने की जो प्रक्रिया पहले ही विषमता पर आधारित हो, वह किस तरह की व्यवस्था को बनाएगी और उसे पोषित करेगी।

बातचीत में वह आगे कहते हैं, हिन्दी अध्यापक के नाते जब तक वह चार तरह के कौशलों (सुनना, बोलना, पढ़ना और लिखना)

को एक साथ विकसित करने के अवसर नहीं बना पाएँगे, तब तक प्रक्रिया को अधूरा ही मानेंगे। एक साथ मतलब साथ-साथ। उनकी दृष्टि में यह छूट रहा है। भेजे गए पाठ को एक साथ पढ़ना और अलग-अलग पढ़ना दो तरह की प्रक्रियाओं की तरफ़ इशारा करता है। दोनों ही स्थितियों में वह यह सुनिश्चित नहीं कर पा रहे कि पाठ प्रत्येक विद्यार्थी ने पढ़ लिया होगा। कक्षा में तो एक ही पाठ के छोटे-छोटे हिस्सों को कुछ विद्यार्थियों को आगे बुलाकर पढ़ने के लिए कहा जा सकता है। यहाँ वह सुविधा नहीं है। इसके साथ वह इस बिन्दु को भी जोड़ते हैं कि कक्षा में कुछ अंशों पर चर्चा करना विद्यार्थियों को कल्पना, चिन्तन और मनन के लिए प्रस्थान बिन्दु या अवसर बनकर आते हैं, लेकिन यहाँ वह इसे कर पाने में असमर्थ हैं।

उन्होंने 'ज़ूम' एप्लीकेशन पर कुछ कक्षाओं को लेने का प्रयास भी किया लेकिन विषम सामाजिक-आर्थिक पृष्ठभूमि से आने वाले विद्यार्थियों के साथ यह अधिक कारगर साबित नहीं हुआ। कोई यह कैसे सुनिश्चित कर सकता है कि उनकी इस कक्षा में आने वाले विद्यार्थी के पास अपना निजी मोबाइल फ़ोन होगा। घर में भाई-बहन हैं। उनके अध्यापक उनकी कक्षाएँ भी संचालित कर रहे होंगे। तब कौन कितनी देर तक मोबाइल का इस्तेमाल करे, यह विकट स्थिति है। वह आपस में यह निर्णय कैसे करते होंगे, किसकी कक्षा को अभी महत्त्व नहीं देना है और किसकी कक्षा बहुत ज़रूरी है, उसे किसी भी हालत में छोड़ा नहीं जा सकता।

फिर वह परिवार भी है, जिसके सदस्य ऐसे संकट के समय में शहर के भीतर या बाहर अपने मित्रों और परिजनों के सम्पर्क में रहना चाहते हैं। अगर कक्षा के बीच में फ़ोन आ जाता है, कोई बात करना चाहता है, तब ऐसी किसी कक्षा का कोई अर्थ नहीं रह जाता। एक बार के लिए मान भी लीजिए, उस वक़्त वह फ़ोन पर बात नहीं करेंगे, तब भी सबके पास मोबाइल पर इंटरनेट डेटा की अलग-अलग सीमाएँ हैं। वह उसे कुछ क़ीमत चुकाकर ख़रीदते हैं। क्या वह एक ही कक्षा पर पूरे दिन का डेटा ख़र्च कर सकता है? ऐसी बहुत-सी समस्याओं को वह गिनाते चले गए।

सरकारी विद्यालयों में पढ़ने वाले विद्यार्थी जिस तरह के घरों में रहते हैं, क्या वह इस तरह की कक्षाओं के लिए उन घरों के भीतर कोई कोना या कोई विशेष स्थान को सुनिश्चित कर पाएँगे। ऐसा स्थान, जहाँ वह अपना एकान्त

कुछ देर के लिए बनाए रख सकते हैं। जहाँ घर ही एक या दो कमरों का हो, वहाँ आप आदर्श स्थिति की कल्पना नहीं कर सकते। ख़ुद विद्यार्थी के मन में अपने घर की संरचना को लेकर जिस तरह के हीन भाव पैदा होने लगेंगे, उनसे जूझने या निपटने के लिए आपने उन्हें कभी कुछ सिखाया है? वह ऐसी स्थिति में क्या करें?

इन विसंगतियों के बीच वह जितना भी पढ़ा पा रहे हैं, वह उस पूरी प्रक्रिया को एक उदाहरण देकर विस्तार से चर्चा करते हैं। वह बताते हैं, कक्षा सात की हिन्दी की पाठ्यपुस्तक *वसंत* भाग-2 में पहला पाठ एक कविता है। कविता का नाम है 'हम पंछी उन्मुक्त गगन के'। इसे शिवमंगल सिंह 'सुमन' ने लिखा है। उन्होंने इस पाठ को एनसीईआरटी की वेबसाइट से डाउनलोड करके उसकी पीडीएफ़ फ़ाइल विद्यार्थियों के साथ साझा की। अब उसमें कई विद्यार्थियों को इसका क्या करना है, यह समझ नहीं आ रहा था। मतलब, पीडीएफ़ फ़ाइल को डाउनलोड कैसे किया जाता है, वह उन्हें नहीं पता था। कैसे वह उसे डाउनलोड करके पढ़ सकते हैं, वह इससे अनभिज्ञ थे। वहीं कक्षा के कुछ विद्यार्थी अभी अक्षरों को जोड़कर पढ़ने में इतने समर्थ नहीं हुए हैं, इसका ख़याल करके जब कोई विकल्प काम नहीं आया, तब 'यूट्यूब' का एक वीडियो उन्हें व्याख्या या पाठ को समझाने के लिए भेजना पड़ा।

अब पंक्तियों के अर्थ या उसकी व्याख्या तक पहुँचने में अध्यापक की भूमिका जिस तरह से कक्षा में हो सकती थी, वह भी यहाँ स्थगित हो गई। वह इस प्रक्रिया को होने ही नहीं देता। यह सबसे बड़ा नुक़सान है। वह इस बात को भी रेखांकित करते हैं, इसमें एक हानि यह भी है कि विद्यार्थी उस वीडियो द्वारा अभिधा में उन पंक्तियों के अर्थ तक तो पहुँच जाते हैं, लेकिन उसकी और क्या व्यंजनाएँ हो सकती हैं, वहाँ तक पहुँचने का यह अवसर उक्त वीडियो को देखते हुए मिल नहीं पाता है। कक्षा में विद्यार्थी जिस तरह कविता से अन्तर्क्रिया कर पाते, वह इस नई कक्षा ने ग़ायब कर दिया। किसी वेबसाइट पर उपलब्ध वीडियो कल्पना, चिन्तन और मनन के लिए किन अवसरों को सृजित करता है, किन अवसरों को हमेशा के लिए छीन लेता है, यह अपने-आप में बहुत बड़ा प्रश्न है।

इन सबके बीच कई बार विद्यार्थियों के अभिभावक अपने बच्चों की आँखों पर पड़ने वाले असर की चिन्ता को फ़ोन पर बातचीत के दौरान उनसे साझा कर चुके हैं। वह इसके प्रति भी अपनी चिन्ता प्रकट कर चुके हैं कि जब विद्यालय खुलेंगे, तब मोबाइल के साथ समय बिताने की उनकी आदत उनके अध्ययन पर कोई नकारात्मक असर न डाले।

ऐसे कई सारे उदाहरण और हो सकते हैं। अपने विषय के अनुसार अध्यापक इस माध्यम से होने वाले शिक्षण की सीमाओं को जान रहे होंगे। जहाँ शिक्षण इस क़दर तकनीकी और यांत्रिक प्रक्रिया पर आश्रित हो गया हो, वहाँ यह सवाल भी पूछा जाना लाज़िमी है कि क्या हमें यहाँ कहीं चेतना के विकास के अवसर दिख भी पा रहे हैं। अगर शिक्षा परिवर्तन की वाहक मान ली जाए, तब ध्यान से देखिए यह किस तरह घटित हो रहा है। इस सारे वृत्तान्त में आप यह भी देख पा रहे होंगे, यहाँ जिस भी रूप में शिक्षण प्रक्रिया घटित हो रही है, उसने अध्यापक और विद्यार्थी की भूमिकाओं को नए अर्थ तो दिए हैं लेकिन उनमें गुणात्मक परिवर्तन कितना हुआ, यह एक बृहद विचार विमर्श के बाद ही हमारे सामने स्पष्ट हो पाएगा। किसी एक व्याख्या से इसे सम्पूर्णता में नहीं समझा जा सकता।

भविष्य के लिए तैयारी

भविष्य की ओर चलते हुए हम अपनी चर्चा को समाप्ति की ओर ले जा रहे हैं, लेकिन उससे पहले कुछ प्रश्नों को इस आलेख के प्रारम्भ में उठाया गया था, उनपर थोड़ा प्रकाश डालना उचित रहेगा। जैसा कि ऊपर संकेत किया है, वहाँ एक महत्त्वपूर्ण बिन्दु था, वर्तमान में जिस तरह की परिस्थितियों का सामना हम कर रहे

हैं, क्या इससे पहले कभी हमने इस तरह की आकस्मिक और अप्रत्याशित परिस्थितियों का सामना किया है? अगर हाँ, तब उस समय हमारी क्या प्रतिक्रिया रही थी? क्या हमने उनसे भविष्य के लिए कुछ सबक सीखे या उन्हें ऐसे ही जाने दिया?

अगर हम सिर्फ़ भारत के सन्दर्भ को ही लेकर चलें, तब हम पाते हैं सशस्त्र संघर्ष के

बाद या हिंसा से प्रभावित क्षेत्रों में विद्यालय पहले भी अनिश्चित काल के लिए बन्द किए जाते रहे हैं। कई जगहों पर जब कभी बाढ़ और चक्रवाती तूफ़ान जैसी प्राकृतिक आपदाएँ आ जाती हैं, तब भी ऐसा किया जाता रहा है। कर्फ़्यू हो, हिंसा हो, बाढ़ के बाद सम्पर्क करने के रास्तों का टूट जाना हो या तूफ़ान के बाद चारों तरफ़ बर्बादी का मंज़र हो, हमें यह देखना होगा, ऐसी स्थितियों को लेकर हमारे पूर्व अनुभव हमें कुछ बता पाने की स्थिति में हैं? क्या हमारे शिक्षा के विमर्श में ऐसी कोई जगह है, जहाँ पहुँचकर हम इन विषयों पर थोड़ी देर बात भी कर सकें।

अगर आज हमें शिक्षा विमर्श की दुनिया में सशस्त्र हिंसा को लेकर कुछ गम्भीर और ठोस बातें दिखाई देती हैं और हम संघर्ष के क्षेत्रों (कॉन्फ़्लिक्ट ज़ोन) में बचपन और उन बच्चों के शिक्षा के अधिकार को महत्त्व देना सीख रहे हैं। तब हमें यह देखना होगा किस विचार प्रक्रिया से गुज़रने के बाद यह प्रस्थान बिन्दु हम तक पहुँच पाए हैं।

इतिहास हमें बताता है, वैश्विक स्तर पर युद्ध को लेकर एक बेचैनी हमेशा बनी रही है। किसी भी युद्ध की सबसे बड़ी क़ीमत किसी भी स्थान विशेष के बच्चे उठाते हैं। युद्ध जैसी मानव निर्मित आपदा को हम प्रथम विश्व युद्ध से भी पहले से झेलने के लिए अभिशप्त रहे हैं। वैश्विक स्तर पर इसके बाद से शिक्षा की भूमिका को दोबारा से टटोले जाने का दौर बहुत तेज़ी से बदलता है। इस श्रृंखला में बहुत विस्तार में न जाते हुए भी हम आगे चलकर पाते हैं, यह अकस्मात नहीं था कि बच्चों के लिए पचास वर्षों तक काम कर लेने के बाद 'यूनिसेफ़' युद्ध, हिंसा और उत्पीड़न की विभीषिका को झेलते बचपन पर 1996 में *स्टेट ऑफ़ द वर्ल्ड चिल्ड्रन* रिपोर्ट जारी करता है। वैश्विक स्तर पर बहुत-से देशों में इसका व्यापक प्रभाव पड़ा। भारत में राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसन्धान और प्रशिक्षण परिषद् (एनसीईआरटी) द्वारा राष्ट्रीय पाठ्यचर्या की रूपरेखा 2005 के साथ 'शान्ति के लिए शिक्षा' पर 'राष्ट्रीय फ़ोकस समूह' गठित किया गया, जिसका उद्देश्य इस अभूतपूर्व हिंसा के दौर में 'शान्ति के लिए शिक्षा' सीखने को अपना आधार बनाना था। इसमें अधिगम के भावनात्मक, सम्बन्धात्मक, और अनुभवात्मक पक्षों को शिक्षा में शामिल किया गया।

यहाँ इस भूमिका को बाँधने का एकमात्र उद्देश्य केवल इतना है कि हमें यह ध्यान देना होगा कि कोई भी विमर्श अचानक से निर्वात में जन्म नहीं लेता। किसी वैचारिकी को खड़े होने में वर्षों लग जाते हैं। बहुत लम्बे समय तक संवाद को स्थापित करना पड़ता है। उसके बाद कहीं वह किसी ठोस आकार में रूपान्तरित हो पाता है।

हम थोड़ा सक्रिय होकर अपने आसपास देखेंगे तो पाएँगे, भारत जैसे देश में जिस तरह विद्यालयी व्यवस्था का विस्तार और फैलाव है, उसमें कई परतें अभी हमारे सामने खुली भी नहीं होंगी। यह प्रक्रिया इस रूप में भी जटिल होने जा रही है क्योंकि हमने हर साल घटित होने वाली ऐसी किसी घटना को कभी अपनी चर्चा का बिन्दु

नहीं बनाया जहाँ दो जगहों के बीच बाढ़ के कारण पुल टूट जाने के बाद विद्यार्थियों के स्कूल पहुँचने के संकट का मुद्दा प्रमुख हो। यह तो मात्र एक उदाहरण है। कितनी ही ऐसी घटनाएँ हमारे देश में घटित होती रही हैं, जिसके कारण जो सम्बन्ध और सम्पर्क किसी आपदा के कारण टूट गया और बन नहीं पाया, हमने उसका अनुवाद कभी इस तरह नहीं किया, जैसा इस वर्तमान परिदृश्य में हम कर रहे हैं। पढ़ाई और सत्र का नुक़सान तो तब भी उतना ही हो रहा होगा। विद्यार्थी जितने दिन विद्यालय से दूर रहेंगे, यह किसी बड़ी समस्या के रूप में यदि हमें आज दिखने लगा है, तब हमें ऐसी हर आपदा और आकस्मिक घटना के बाद और उसके दौरान बनने वाली खाली जगह के लिए विमर्श प्रारम्भ करना होगा।

क्या हम यह सोच भी पा रहे हैं कि जिस तकनीक के माध्यम से हम यह नई कक्षाएँ रच रहे हैं, वह कैसे समता, समानता और विविधता जैसे बिन्दुओं को समाहित करते हुए अपने द्वारा बनाई गई विषमता, समस्याएँ और विसंगतियाँ ख़ुद से दूर कर पाएँगी। जब स्थितियाँ सामान्य मान ली जाती हैं, तब भी एक भय और अनिश्चितता का माहौल चारों तरफ़ रहता है। उसमें अध्यापकों और बच्चों से किस तरह की अपेक्षा की जाती है?

इन परिस्थितियों का हमारी शैक्षिक प्रक्रियाओं पर कितना दूरगामी प्रभाव पड़ने वाला है, हम ठीक-ठीक आकलन भी नहीं कर पा रहे हैं। लगता यही है, इस वैश्विक महामारी के गुज़र जाने के बाद भी इसका असर और प्रभाव बहुत लम्बे समय तक शिक्षा व्यवस्था, शिक्षक, विद्यार्थी, पाठ्यचर्या, पाठ्यपुस्तक, तकनीक आदि पर बना रहेगा। ऐसी आपात स्थिति में आज हम अपने शैक्षिक ढाँचे को किस तरह से पुनर्रचित या पुनर्गठित कर सकते हैं, यह हम

जानते नहीं हैं। किन्तु हमारे पास आज उठ रहे प्रश्नों के कुछ सम्भावित उत्तरों तक पहुँचने की कुछ युक्तियाँ होनी चाहिए। हमें ऐसे भविष्य के लिए कुछ स्थापनाओं, धारणाओं और सिद्धान्तों आदि को अभी से टटोलना प्रारम्भ कर देना चाहिए, जहाँ हम ऐसे आकस्मिक वैश्विक संकट से ख़ुद को जूझने के लिए पहले से ज़्यादा कुशल और साधनसम्पन्न बना पाएँ। हम सबको व्यवस्थित होकर इस नई बन रही संरचना के प्रति उदासीनता को एक तरफ़ रखकर आगे बढ़ना होगा। हमें कुछ मूलभूत प्रश्नों को गढ़ना होगा, उन्हें तराशना होगा और उनके उत्तर तलाशने होंगे।

● सभी चित्र इंटरनैट से साभार

सन्दर्भ

National Focus Group Position Paper on ‘Education for Peace’ (2006), NCERT, Delhi.

The State of the World’s Children (1996), OUP, New York.

शचीन्द्र आर्य वर्तमान में दिल्ली विश्वविद्यालय के शिक्षा विभाग (सीआईई) से ‘ग्रामीण परिप्रेक्ष्य में आधुनिकता और शिक्षा की अन्तर्क्रिया’ विषय पर शोधरत। ‘ईपीडब्लू’, ‘शिक्षा विमर्श’ और ‘पाठशाला भीतर और बाहर’ में शोध लेख प्रकाशित।

सम्पर्क : shachinderarya@gmail.com

मैकॉले बनाम भारतीय ज्ञान–प्रणालियाँ और शिक्षा–व्यवस्था

अभय कुमार दुबे

इस अनुसन्धान में मैकॉले की शिक्षा सम्बन्धी टिप्पणी की दावेदारियों की जाँच की गई है। इसमें ऐतिहासिक तथ्यों के माध्यम से दिखाया गया है कि जब भारत की क्षेत्रीय और क्लासिक भाषाओं को ज्ञानोत्पादन के लिए अक्षम बताया जा रहा था, उस समय उनके दायरों में किस तरह की शिक्षा-प्रणालियाँ चल रही थीं और वे ज्ञानोत्पादन की कौन-सी परम्पराओं से सम्पन्न थीं। मैकॉले का दावा किस हद तक सही था? क्या उपनिवेशवादियों द्वारा पूर्व के ज्ञान को गुणवत्ताविहीन बता कर ख़ारिज करने के लिए पश्चिमी ज्ञान-प्रणाली द्वारा प्रदत्त प्रविधियों और बौद्धिक संहिताओं का इस्तेमाल किया गया था? इसी के साथ यह लेख प्राच्यवादियों (ओरिएंटलिस्ट्स) द्वारा अपनाई गई 'क़लम लगाने की रणनीति', आंग्लवादियों (एंग्लिसिस्ट्स) द्वारा प्रतिपादित 'छनन सिद्धान्त' और वर्नाकुलरिस्ट्स द्वारा भारतीय भाषाओं को प्रोत्साहन देने के आग्रह की समीक्षा करते हुए दिखाता है कि किस तरह ये तीनों एक ही लक्ष्य को प्राप्त करने की विभिन्न युक्तियाँ थीं, और यह लक्ष्य था भारत पर अँग्रेज़ी भाषा को थोपना।

इस अनुसन्धान का पहला भाग पत्रिका के चौथे अंक में प्रकाशित किया गया था। वर्तमान अंक में दूसरा भाग प्रकशित किया जा रहा है । तीसरा और अन्तिम भाग पाठशाला के आगामी यानी छठवें अंक में छापा जायेगा। सं.

मैकॉले के बाद : अँग्रेज़ी का 'न्यूनतम' वर्चस्व बरास्ते छनाई सिद्धान्त

मैकॉले का निष्कर्ष था कि भारतवासियों को उनकी भाषाओं में शिक्षा नहीं दी जा सकती। जीसीपीआई में उनके निकटतम सहयोगी रहे चार्ल्स ट्रेवेलियन ने तीन साल बाद (1838) में प्रकाशित अपनी पुस्तक *ऑन द एजुकेशन ऑफ़ द पीपुल ऑफ़ इंडिया* के पृष्ठों पर अपनी पत्नी के भाई द्वारा निकाले गए इस नतीजे को विस्तार से समझाया। ट्रेवेलियन ने दावा किया कि शिक्षा की हिन्दू-प्रणाली के तहत रचित इतिहास किसी भी तरह के प्रामाणिक आख्यानों से वंचित है और उनके स्थान पर पुराकथाओं से बजबजा रहा है। इस प्रणाली से निकले औषधि-विज्ञान का मतलब है नीमहक़ीमी। इसके भूगोलशास्त्र और खगोलशास्त्र में भीषण क़िस्म की बेहूदगियाँ भरी हुई हैं। इसका विधिशास्त्र ढीलीढाली अन्तर्विरोधी सूक्तियों से बना है। इसकी दण्ड संहिता बर्बर और हास्यास्पद प्रावधानों से भरी है। मुस्लिम शिक्षा-प्रणाली के बारे में ट्रेवेलियन का कहना था कि वह हिन्दू-प्रणाली से काफ़ी बेहतर और छापेख़ाने से पहले के युरोप में प्रचलित प्रणाली जैसी तो है, लेकिन युरोप की मौजूदा ज्ञान-राशि के मुक़ाबले यह भी बहुत कमतर बैठती है।[40] ट्रेवेलियन की इस दावेदारी का संक्षिप्त रूप मैकॉले की टिप्पणी में भी व्यक्त किया गया था ('हमें मिथ्या इतिहास, मिथ्या खगोलविज्ञान, मिथ्या चिकित्साशास्त्र पढ़ाना है, क्योंकि यह एक मिथ्या धर्म का हिस्सा है')। उन्नीसवीं सदी

40. देखें, चार्ल्स ई ट्रेवेलियन (1938), *ऑन द एजुकेशन ऑफ़ द पीपुल ऑफ़ इंडिया*, प्रकाशक : लोंगमेन, ओर्म, ब्राउन, ग्रीन ऐंड लोंगमेन, लंदन : 83-85।

में उपनिवेशवादियों ने जब भी मैकॉले-बेंटिक की शिक्षा-पद्धति का औचित्य-निरूपण किया, घुमा-फिरा कर यही तर्क दिए गए।[41] भारतीय ज्ञान-विज्ञान से सम्बन्धित ऊपर दिए गए विवरणों से ज़ाहिर है कि जिस समाज में अँग्रेज़ी के आने से ठीक पहले विभिन्न ज्ञानानुशासनों में उच्च-स्तर का और विपुल ज्ञानोत्पादन हो रहा हो, उसकी शिक्षा के बन्दोबस्त हज़ारों साल से अज्ञान, अन्धविश्वास और कर्मकाण्ड के अन्धकार में डूबे हुए नहीं हो सकते थे। कहना न होगा कि उपनिवेशवादियों द्वारा परम्परागत भारतीय शिक्षा-व्यवस्था पर लगाए गए इन आरोपों का विचारधारात्मक दुराग्रहों और सत्ता की ताक़त का सहारा लिए बिना किसी तरह से बचाव नहीं किया जा सकता था।

यह देखना दिलचस्प होगा कि जिस समय उपनिवेशवादी भारतीय शिक्षा-प्रणाली के बारे में इस तरह की निन्दात्मक चर्चा में लगे हुए थे, उनके पास ऐसी बातें करने की आधार-सामग्री क्या थी? दरअसल, 1835 में अपने शिक्षा सम्बन्धी निर्णय पर पहुँचने से पहले बेंटिक ने शिक्षा के तत्कालीन ढाँचे के बारे में जानकारी हासिल करने के लिए स्कॉटिश मिशनरी विलियम एडम[42] से बंगाल प्रेसीडेंसी में एक सर्वेक्षण करवाया था और उस सर्वेक्षण की पहली रपट उनके पास थी। बाद में एडम ने 1938 तक दो और रपटें पेश कीं *(स्टेट ऑफ़ एजुकेशन इन बंगाल : 1835-38)*। इससे पहले 1796 में फ़्रा पाओलिनो दा बोर्टोलोमियो द्वारा बच्चों की शिक्षा के बारे में जानकारी जमा की जा चुकी थी। 1820 में एलेक्ज़ेंडर वाकर ने भारतीय शिक्षा और साहित्य के बारे में एक रपट पेश की थी। 1822 से 1826 के बीच मद्रास प्रेसीडेंसी के गवर्नर थॉमस मुनरो[43] की पहलक़दमी पर इस क्षेत्र में पारम्परिक शिक्षा की संरचनाओं का असाधारण सर्वेक्षण करके बहुत-सी सूचनाएँ कम्पनी सरकार को दी जा चुकी थीं। बाद में आगे चल कर 1882 में जी डब्ल्यू लीटनर की रचना *हिस्ट्री ऑफ़ एजुकेशन इन पंजाब सिंस एनक्सेशन ऐंड इन 1882* का प्रकाशन हुआ।

युरोपियन सर्वेक्षकों और अधिकारियों द्वारा भारतीय शिक्षा के बारे में जमा की गई-करवाई गई यह जानकारी भारत में पढ़ाई-लिखाई की वैसी निराशाजनक तस्वीर पेश नहीं करती जैसी उपनिवेशवादी आमतौर पर पेश कर रहे थे। लेकिन, शिक्षा सम्बन्धी फ़ैसले करते समय ऐसी किसी रपट की प्रकटतः कोई परवाह नहीं की गई। इन रपटों को तैयार करने वाले व्यक्तियों का

41. मसलन, 1853 में एलेक्ज़ेंडर डफ़ ने बेंटिक के एजुकेशन एक्ट के पक्ष में बोलते हुए एकदम ऐसे ही विचार व्यक्त किए थे। बी के बोम्मन-बेहराम (1943), *एजुकेशनल कंट्रोवर्सीज़ इन इंडिया : द कल्चरल कांक्वेस्ट ऑफ़ इंडिया अंडर ब्रिटिश इम्पीरियलिज़म*, डी.बी. तारापोरवाला संस ऐंड कं., बंबई में उद्धृत : 222।

42. विलियम एडम (1796-1881) बैप्टिस्ट मिशनरी के रूप में 1818 में भारत आए। 1830 में उन्हें गवर्नर-जनरल विलियम बेंटिक ने बंगाल और बिहार में शिक्षा-व्यवस्था का सर्वेक्षण करने का ज़िम्मा दिया। एडम संस्कृत और बांग्ला भाषा भी जानते थे। वे राममोहन रॉय के मित्र थे और उन्हीं के साथ मिल कर उन्होंने बैप्टिस्ट मिशनरी की हैसियत छोड़ कर यूनिटेरियन सेक्ट के लिए काम करने की शुरुआत की। बाद में एडम अमेरिका और कनाडा में भी यूनिटेरियन सेक्ट के प्रचार-प्रसार के लिए भी सक्रिय रहे। बैप्टिस्ट से यूनिटेरियन बनने के कारण ईसाई धर्मप्रचारवादी उनसे नाराज़ हो गए। एडम पत्रकार भी थे, और कलकत्ता के *इंडियन गज़ट* समेत कुछ अख़बारों का स्वामित्व उनके पास था। आंग्लवादियों और धर्मप्रचारवादियों द्वारा भारतवासियों के असभ्य और अशिक्षित बताए जाने के ख़िलाफ़ अपने अख़बार के कॉलमों में लिखने के कारण भी उनके कई सुझावों की तत्कालीन कम्पनी हुकूमत द्वारा उपेक्षा की गई।

43. थॉमस मुनरो (1761-1827) को माउंट स्टुअर्ट एलफ़िंस्टन के साथ उन शीर्ष ब्रिटिश अधिकारियों के मण्डल का सदस्य माना जाता है जिनके कार्यकाल को 'एम्पायर ऑफ़ ओपीनियन' की संज्ञा दी जाती है। समझा जाता है कि वारेन हेस्टिंग्ज़ के भारत से चले जाने के बावजूद उनकी प्रशासकीय विरासत को इसी 'एम्पायर ऑफ़ ओपीनियन' ने आगे बढ़ाया। मुनरो ने भारत में अपना अधिकतम समय दक्षिण भारत में कम्पनी राज की सेवा में बिताया। यहीं उन्होंने ब्रिगेडियर और मेजर जनरल की हैसियत से हैदर अली, टीपू सुल्तान और फिर पिण्डारियों के ख़िलाफ़ युद्ध में कम्पनी की सेनाओं का नेतृत्व किया। मद्रास के गवर्नर के रूप में उन्हें राजस्व जमा करने वाली रैयतवाड़ी प्रणाली के जनक के तौर पर भी जाना जाता है। जन-शिक्षा की मुनरो योजना शायद लंदन स्थित कम्पनी के डायरेक्टरों द्वारा इतनी आसानी से ख़ारिज न की जाती, अगर वे कुछ दिन और जीवित रहते। लेकिन ठीक उस समय जब लंदन में उनके पक्ष-पोषण के लिए उनकी सशरीर उपस्थिति आवश्यक थी, 1827 में उनका निधन हो गया।

निजी इरादा और रुझान जो भी रहा हो, तत्कालीन सत्तारूढ़ शक्तियाँ इन रपटों से असल में यह जानना चाहती थीं कि वे जिस प्रणाली को नष्ट करने की योजना पर काम कर रही हैं उसकी शक्ल-सूरत और आर्थिक आधार क्या है। इन रपटों को ख़ारिज करने के बावजूद उपनिवेशवादियों ने इनसे पहली बात तो यह सीखी कि भारत की पारम्परिक शिक्षा-प्रणाली अपने आर्थिक पोषण के लिए बिना किसी राजकोषीय व्यवस्था के सामाजिक शक्तियों की विकेन्द्रित मदद से चलती रही है। वे इस निष्कर्ष पर भी पहुँचे कि अगर वे अपने शिक्षा-बजट से इस प्रणाली को पूरी तरह से वंचित कर देंगे, फिर भी यह किसी-न-किसी रूप में चलती रहेगी। उपनिवेशवादियों ने इससे दूसरी बात सम्भवत: यह सीखी कि समाज में विद्या के प्रसार का यह बन्दोबस्त अध्यापकों के एक ऐसे समुदाय पर टिका है जो सरकार पर निर्भर नहीं हैं, बल्कि उन्हें अपना आर्थिक पोषण समाज से ही मिलता है। ऐसे अध्यापक औपनिवेशिक सरकार के काम के नहीं हो सकते थे। अपने प्रभाव से स्वायत्त ऐसे अध्यापकों पर कम्पनी सरकार मनमाना पाठ्यक्रम चालू करने और शिक्षा के बुनियादी तत्त्व को बदलने के लिए निर्भर नहीं हो सकती थी।

थॉमस बैबिंग्टन मैकॉले
25 अक्तूबर 1800 - 28 दिसम्बर 1859

यही थी वह औपनिवेशिक समझ जिसके तहत बेंटिक के आदेश में शिक्षा पर राजकीय व्यय के सन्दर्भ में 'वर्नाकुलर' शब्द की अनुपस्थिति की व्याख्या पारम्परिक शिक्षा में राजकीय 'अहस्तक्षेप' की नीति के रूप में की गई।[44] इससे एक अन्दाज़ा लगाया जा सकता है कि भारतीय ज्ञान-विज्ञान और शिक्षा-प्रणाली के ख़िलाफ़ किस तरह की बहुमुखी और जटिल पेशबन्दी की जा रही थी। इसका अन्तिम परिणाम अँग्रेज़ी प्रधान केन्द्रीकृत अभिजनोन्मुख शिक्षा-प्रणाली और उसके ज़रिए पश्चिमी ज्ञान-विज्ञान की आमूलचूल स्थापना में निकला। अँग्रेज़ों ने इसके लिए एक अत्यन्त संकुल प्रक्रिया अपनाई जो कई चरणों में धीरे-धीरे चली। इस दौरान उन्हें कई विरोधाभासों और अन्तर्विरोधों से गुज़रना पड़ा और अपने ही एकतरफ़ा लगने वाले निर्णयों की सन्तुलित व्याख्याएँ करनी पड़ीं। जटिल राजनीतिक-आर्थिक परिस्थितियों का सामना करने के बावजूद उन्होंने न केवल भारतवासियों को अँग्रेज़ी और पश्चिमी विद्या थमाने का लक्ष्य कभी आँखों से ओझल नहीं होने दिया, बल्कि इस प्रक्रिया को 'बलपूर्वक थोपने' की बजाय सभ्यतामूलक उद्धार, ज्ञान के प्रकाश और आधुनिकीकरण की भाषा में व्यक्त करने में कोई कसर नहीं छोड़ी। आशिस नंदी ने भारत में ब्रिटिश उपनिवेशवाद को 'जिगरी दुश्मन' की संज्ञा यूँ ही नहीं दी है।[45] भाषा-शिक्षा-ज्ञान के सांस्कृतिक-राजनीतिक क्षेत्र में चली यह

44. बेंटिक के आदेश पर देशी भाषाओं के ख़ात्मे की शुरुआत के आरोप का बचाव करते हुए यह तर्क एलेक्ज़ेन्डर डफ़ ने दिया था। उनका कहना था 'क्या प्रत्यक्ष सकारात्मक प्रोत्साहन को रोकने के आदेश ... को सम्पूर्ण उन्मूलन का अर्थ देने वाले प्रत्यक्ष और सक्रिय हतोत्साहन के रूप में समझा जाना चाहिए ?' यह उद्धरण जॉन डी विंडहॉज़ेन (1964), वही ने डफ़ की 1836 में प्रकाशित एक रचना से लिया है।

45. देखें, आशिस नंदी (2018), *जिगरी दुश्मन : उपनिवेशवाद के साये में आत्म-क्षय और आत्मोद्धार*, अनु. अभय कुमार दुबे, सामयिक विमर्श ग्रन्थमाला, वाणी-सीएसडीएस, नई दिल्ली।

त्रिकोणात्मक अन्योन्यक्रिया अपने-आप में एक ऐसी मिसाल है जिससे पता चल सकता है कि हमारा 'दुश्मन' हमारा 'जिगरी' कैसे बन गया। वस्तुत: भारत के सांस्कृतिक मर्म को भीतर से बदल डालने वाले इस औपनिवेशिक उद्यम में ऐसे कई किरदार और रुझान थे जो पहली नज़र में भारत का पक्ष लेकर उपनिवेशवादियों से संघर्ष करते नज़र आते थे। भारत के प्रति हमदर्दी से भरे और सौम्य लगने वाले इन चरित्रों और प्रवृत्तियों को इतिहासकारों और विश्लेषकों ने कुछ इस तरह पेश किया है जैसे वे अँग्रेज़ीपरस्त खलनायकी के बरक्स भारतीय भाषाओं में शिक्षा के तरफ़दार हों। लेकिन जैसे ही उन्हें उनकी वास्तविक श्रेणी के तहत रख कर देखा जाता है— उनकी तस्वीर साफ़ हो जाती है। उन्हीं प्राच्यवादियों की तरह जिनके बारे में ऊपर बताया जा चुका है कि आंग्लवादियों से लड़ने के बावजूद उपनिवेशवाद, अँग्रेज़ी-शिक्षा और पश्चिमी विद्या के कुछ भिन्न प्रकार के एजेंट थे।

प्रश्न यह है कि भाषा-शिक्षा-ज्ञान की तत्कालीन त्रिकोणात्मक संरचना की वास्तविक श्रेणियाँ कौन-कौन सी थीं? इसकी पहली श्रेणी थी देशी भाषाओं और पूर्व की क्लासिकल भाषाओं में शिक्षा देने वाली भारत की पारम्परिक शिक्षा-प्रणाली जिसका विवरण नीचे दिया गया है। इसकी दूसरी श्रेणी थी भारतीय विद्या जिसका विवरण ऊपर दिया जा चुका है। इसकी तीसरी श्रेणी थी देशी भाषाओं में लेकिन अँग्रेज़ों द्वारा प्रस्तावित आधुनिक केन्द्रीकृत शिक्षा-प्रणाली के बन्दोबस्त के तहत शिक्षा देने की मुहिम। चौथी श्रेणी उस मतभेद की थी जो नई शिक्षा-प्रणाली की संरचना को लेकर आंग्लवादियों और वर्नाकुलरिस्ट्स के बीच था। इस मतभेद के केन्द्र में था आंग्लवादियों द्वारा प्रवर्तित छनन सिद्धान्त जिसकी सही समझ बनाए बिना अँग्रेज़ी प्रधान उपनिवेशवादी शिक्षा की परियोजना का वास्तविक अर्थ-ग्रहण मुश्किल है।

दरअसल, इन श्रेणियों में जैसे ही घालमेल किया जाता है, वैसे ही 'दुश्मन' का चेहरा 'जिगरी' बनता हुआ लगने लगता है। मसलन, पारम्परिक शिक्षा-प्रणाली के हमदर्द विवरण देने वाले कोई और नहीं बल्कि उपनिवेशवादी महाप्रभुओं द्वारा नियुक्त वे पादरी और सरकारी अफ़सर थे जिन्हें इतिहास में वर्नाकुलरिस्ट्स कहा गया है। जब वे देशी भाषाओं में शिक्षा देने के लिए सरकारी धन ख़र्च करने का दबाव डालने की मुहिम चलाते दिखते हैं तो उनकी वह आन्दोलनकारी छवि इस तरह पेश की जाती है जैसे वे उपनिवेशवाद की ज़रूरतों के विपरीत भारतीय समाज की ज़रूरतों की साहसपूर्ण पैरोकारी कर रहे हों। यहाँ विश्लेषण करने की ज़रूरत है कि क्या वर्नाकुलरिस्ट्स द्वारा प्रस्तावित देशी भाषाओं में शिक्षा पारम्परिक शिक्षा-प्रणाली का पर्याय थी, या वे पारम्परिक की जगह एक ऐसी शिक्षा-प्रणाली स्थापित करने के समर्थक थे जो भारत के लिए विजातीय थी? वे देशी भाषाओं में भारतीय विद्या सिखाना चाहते थे या पश्चिमी विद्या? क्या ये वर्नाकुलरिस्ट्स भारतीय विद्या का रिश्ता देशी भाषाओं से काट देने की रणनीति पर नहीं चल रहे थे? दूसरी तरफ़, क्या सरकारी कोष की एक-एक पाई अँग्रेज़ी शिक्षा पर ख़र्च करने के आग्रही देशी भाषाओं में शिक्षा को पूरी तरह से नष्ट कर देना चाहते थे? या उनकी नीति कुछ और थी, और देशी भाषाओं में शिक्षा को भी अँग्रेज़ी और पश्चिमी विद्या के मातहत लाने का उद्यम कर रहे थे? यहाँ एक-एक करके चारों श्रेणियों की चर्चा की गई है, और फिर विश्लेषण किया गया है कि किसने क्या कहा और

यहाँ विश्लेषण करने की ज़रूरत है कि क्या वर्नाकुलरिस्ट्स द्वारा प्रस्तावित देशी भाषाओं में शिक्षा पारम्परिक शिक्षा-प्रणाली का पर्याय थी, या वे पारम्परिक की जगह एक ऐसी शिक्षा-प्रणाली स्थापित करने के समर्थक थे जो भारत के लिए वि जातीय थी ? वे देशी भाषाओं में भारतीय विद्या सिखाना चाहते थे या पश्चिमी विद्या ?

दरअसल वह एक भली-सी और कल्याणकारी-सी लगने वाली बात की आड़ में किसके लिए ज़मीन साफ़ कर रहा था।

पारम्परिक शिक्षा-प्रणाली

जैसा कि हमें पता है— उपनिवेशवादी प्रयोगों का मुख्य थिएटर बंगाल था। परमेश आचार्य ने अँग्रेज़ों के आने से पहले बंगाल में मुग़ल काल से प्रचलित शिक्षा-प्रणाली का एक अनुसन्धानपरक तथ्यगत ब्योरा पेश किया है।[46] संक्षेप में उनके निष्कर्ष इस प्रकार हैं : पाठशालाओं और मक़तबों में साधारण हिन्दू और मुसलमान शिक्षा प्राप्त करते थे। टोल (संस्कृत शिक्षा) और मदरसे (फ़ारसी शिक्षा) धार्मिक और अन्य अभिजन के लिए थे। इनके लिए कोष का इन्तज़ाम राजाओं, नवाबों और अन्य धनपतियों द्वारा दी जाने वाले भू-अनुदानों और अन्य दान व धर्मादों द्वारा होता था। शिक्षा संस्थाओं का यह नेटवर्क पूरी तरह विकेन्द्रीकृत था। किसी भी तरह की केन्द्रीकृत बाह्य नियंत्रणकारी प्राधिकार की इसमें कोई भूमिका नहीं थी। इस शिक्षा-व्यवस्था के तहत किसी समरूप परीक्षा-प्रणाली का चलन नहीं था। देशी भाषाओं के ज़्यादातर स्कूलों में केवल एक अध्यापक होता था। छात्रों द्वारा दिए जाने वाले 'सीधे' और गाँववालों द्वारा समय-समय पर दिए जाने वाले दान से अध्यापक की आजीविका चलती थी। अध्यापकगण कुछ स्थापित मानकों का पालन करते थे जिनमें स्थानीयता के मुताबिक़ बहुत कम तब्दीलियाँ होती थीं। लिखना सिखाने के लिए ज़मीन, ताड़ के पत्ते, काग़ज़ आदि का प्रयोग किया जाता था। बौद्ध प्रभाव के कारण हिन्दुओं की पाठशाला प्रणाली का कुछ लोकतंत्रीकरण और सेकुलरीकरण भी हुआ था। बंगाल के हिन्दू स्कूलों में मुसलमान शिक्षकों और छात्रों की मौजूदगी इसके प्रमाण के तौर पर देखी जा सकती है। मुसलमानों की मक़तब प्रणाली के स्कूलों का रुझान ज़्यादातर इस्लाम केन्द्रित था।

> फ़्रायकेनबर्ग की दक्षिण भारत सम्बन्धी विशेषज्ञता की मदद भी ली जा सकती है। फ़्रायकेनबर्ग ने 1784 से 1854 के बीच दक्षिण भारत में शिक्षा के नज़ारे पर उल्लेखनीय अनुसन्धान किया है। विलियम एडम के अनुसार 1830 के दशक में बंगाल और बिहार के ग्रामों में एक लाख स्कूल (पाठशाला, गुरुकुल, मदरसा और संस्कृत की शिक्षा देने वाले टोल को मिला कर) थे।

पारम्परिक शिक्षा-प्रणाली के अन्य पहलुओं की जानकारी प्राप्त करने के लिए धर्मपाल के बौद्धिक उद्यम की मदद भी ली जा सकती है। धर्मपाल ने अपनी रचना द ब्यूटीफ़ुल ट्री : इंडीजीनियस इंडियन एजुकेशन इन द एटींथ सेंचुरी में युरोपियन अधिकारियों और अन्य प्रेक्षकों की ऊपर बताई गई महत्त्वपूर्ण रपटें संकलित की हैं।[47] धर्मपाल के साथ-साथ यहाँ रॉबर्ट फ़्रायकेनबर्ग की दक्षिण भारत सम्बन्धी विशेषज्ञता की मदद भी ली जा सकती है। फ़्रायकेनबर्ग ने 1784 से 1854 के बीच दक्षिण भारत में शिक्षा के नज़ारे पर उल्लेखनीय अनुसन्धान किया है।[48] विलियम एडम के अनुसार 1830 के दशक में बंगाल और बिहार के ग्रामों में एक लाख स्कूल (पाठशाला, गुरुकुल, मदरसा और संस्कृत की शिक्षा देने वाले टोल को मिला कर) थे। मद्रास प्रेसीडेंसी में शिक्षा की स्थिति का ब्योरा देते हुए

46. देखें, परमेश आचार्य (1978), 'इंडीजीनियस वर्नाकुलर एजुकेशन इन प्रि-ब्रिटिश एरा : ट्रेडिशंस ऐंड प्रॉब्लम्ज़', *इकॉनॉमिक ऐंड पॉलिटिकल वीकली,* खण्ड 13, अंक 48 : 1981+1983-1988।

47. देखें, धर्मपाल (2000), *द ब्यूटीफ़ुल ट्री : इंडीजीनियस इंडियन एजुकेशन इन द एटींथ सेंचुरी,* (कलेक्टिड राइटिंग्ज़ ऑफ़ धर्मपाल-खण्ड 3), अदर इंडिया प्रेस, गोवा।

48. रॉबर्ट एरिक फ़्रायकेनबर्ग (1986), 'मॉडर्न एजुकेशन इन साउथ इंडिया, 1784-1854 : इट्स रूट्स ऐंड इट्स रोल एज़ अ व्हीकल ऑफ़ इंट्रीगेशन अंडर कम्पनी राज', *द अमेरिकन हिस्टोरिकल रिव्यू,* खण्ड 91, अंक 1 : 37-65।

थॉमस मुनरो का कहना था कि वहाँ हर एक गाँव में स्कूल था। 1820 के आसपास जी एल प्रैंडरजैस्ट जैसे वरिष्ठ अधिकारी ने जानकारी दी कि बंबई प्रेसीडेंसी में ऐसा कोई गाँव नहीं था जहाँ स्कूल न हो, और बड़े आकार के गाँवों में एक से ज़्यादा स्कूल थे। डॉ जी डब्ल्यू लीटनर के अनुसार पंजाब में 1850 के आसपास शिक्षा का प्रसार इसी तरह का था।

ध्यान रखने की बात है कि ये ब्योरे उस दौर के हैं जब भारतीय अर्थव्यवस्था उपनिवेशवाद के दुष्प्रभावों के कारण क्षत-विक्षत हालत में पड़ी हुई थी। भारतीय शिक्षा के बारे में ये सूचनाएँ देने वाले ये लोग ग्रेट ब्रिटेन की अठारहवीं सदी के आख़िरी और उन्नीसवीं सदी के शुरुआती दौर के समाज के सदस्य थे। यह सब देखते और लिखते समय उन्हें यह भी पता था कि तत्कालीन ब्रिटेन में शिक्षा की स्थिति क्या थी। उस ज़माने में साधारण लोगों के लिए इंग्लैंड में कुछ ही स्कूल उपलब्ध थे। न केवल यह, पहले से चले आ रहे ग्रामर स्कूलों की हालत ख़स्ता थी। एक तरफ़ भारत के हर गाँव में स्कूल होने का तथ्य था, और दूसरी तरफ़ इंग्लैंड में आम लोगों की शिक्षा की अफ़सोसनाक स्थिति थी। इसलिए इन भारत सम्बन्धी तथ्यों की सच्चाई स्वीकार करना उपनिवेशवादियों के लिए बहुत मुश्किल था। इसीलिए उन्होंने इन तथ्यों को 'एक लाख स्कूलों की दन्तकथा' करार दे कर ठुकरा दिया।

इन भारतीय स्कूलों में शिक्षा का स्तर क्या था? भारत में सदियों से चली आ रही इस प्रणाली के तहत दी जाने वाली शिक्षा की विषयवस्तु न केवल इंग्लैंड के मुक़ाबले बेहतर थी, बल्कि उसके छात्रों की स्कूली शिक्षा की अवधि ज़्यादा लम्बी होती थी। अध्यापन की विधि भी कहीं बेहतर थी। 1822-1825 के बीच मद्रास में स्कूलों में छात्रों की उपस्थिति 1800 के इंग्लैंड के सभी तरह के स्कूलों के मुक़ाबले आनुपातिक रूप से काफ़ी अधिक थी। भारतीय स्कूल इंग्लैंड के स्कूलों की भाँति गन्दे-सन्दे न हो कर साफ़-सुथरे होते थे। भारतीय शिक्षक इंग्लैंड के अध्यापकों के मुक़ाबले अधिक समर्पित और सौम्य थे। इसके मुक़ाबले अगर इंग्लैंड के स्कूलों की दशा पर नज़र डाली जाए तो धार्मिक शिक्षा को छोड़ कर 1835 के आसपास एक छात्र औसतन एक साल ही पढ़ता था, और 1850 तक आते-आते यह अवधि दो साल हो पाई थी। ए ई डॉब्स के अनुसार इंग्लैंड के कुछ ग्रामीण स्कूलों में तो लिखना सिखाया ही नहीं जाता था, क्योंकि माना जाता था कि लेखन सिखाने से दुष्टता पैदा होती है।

भारतीय स्कूलों की सबसे बड़ी कमी थी उनमें छात्राओं की कम संख्या होना। स्त्री -शिक्षा के सन्दर्भ में इंग्लैंड के स्कूलों को उनसे बेहतर कहा जा सकता था। लेकिन, इन स्कूलों की एक अन्य प्रचलित आलोचना तथ्यों की कसौटी पर खरी नहीं उतरती कि इनमें दी गई शिक्षा पर हिन्दुओं के सन्दर्भ में द्विज जातियों की और मुसलमानों के सन्दर्भ में शासक अभिजन की इजारेदारी थी।

भारतीय स्कूलों की सबसे बड़ी कमी थी उनमें छात्राओं की कम संख्या होना। स्त्री-शिक्षा के सन्दर्भ में इंग्लैंड के स्कूलों को उनसे बेहतर कहा जा सकता था। लेकिन, इन स्कूलों की एक अन्य प्रचलित आलोचना तथ्यों की कसौटी पर खरी नहीं उतरती कि इनमें दी गई शिक्षा पर हिन्दुओं के सन्दर्भ में द्विज जातियों की और मुसलमानों के सन्दर्भ में शासक अभिजन की इजारेदारी थी। तथ्यों के अनुसार मद्रास प्रेसीडेंसी के तमिलभाषी इलाक़ों में और बिहार के दो ज़िलों के स्कूलों में शूद्रों और उनसे भी कमतर समझी जाने वाली जातियों के छात्र अधिक संख्या में पाए गए। उन दिनों मद्रास प्रेसीडेंसी में तमिलभाषियों के अलावा ओडिया, कन्नड़, मलयालम और तेलुगु बोलने वाले इलाक़े भी आते थे। थॉमस मुनरो का सर्वेक्षण बताता है कि तेलुगु-क्षेत्र को छोड़ कर बाक़ी सभी भाषा-क्षेत्रों के स्कूलों में द्विज छात्रों की संख्या शूद्र और अन्य निचली समझी

जाने वाली जाति के छात्रों के मुक़ाबले काफ़ी कम थी। ब्राह्मणों के उच्चतर सामाजिक दर्जे के बावजूद मुनरो का सर्वेक्षण एक उल्लेखनीय जानकारी देता है कि तमिल स्कूलों में ब्राह्मणों के बजाय वेल्लालर जाति (शूद्र) के अध्यापकों की संख्या अधिक थी। इन स्कूलों में पुराने ग़ैर-ब्राह्मण साहित्यिक और अभिलेखीय ब्योरे और सामग्री को सहेज कर रखा गया था। यह प्रवृत्ति इन स्कूलों को एक नई सृजनशीलता से सम्पन्न करती हुई दिखती थी। फ्रायकेनबर्ग के मुताबिक़ इससे सन्देश मिलता था कि तमिल समाज में ख़ासतौर से और आमतौर से दक्षिण भारतीय समाज में साक्षरता और शिक्षा पर ब्राह्मणों की इजारेदारी नहीं थी। इसका सबूत इस आँकड़े से भी मिलता है कि ग्रामीण स्कूलों में ब्राह्मण छात्रों की संख्या औसतन 34.5 प्रतिशत से अधिक नहीं थी (इस प्रतिशत में बहुत थोड़ी संख्या वैश्य छात्रों की भी शामिल है)। इसी सन्दर्भ में एडम रपट ने एक जगह बर्दवान में अछूत समझी जाने वाली जातियों की शिक्षा-प्रणाली में मौजूदगी के आँकड़े दिए हैं और उनकी ईसाई मिशनों द्वारा चलाए जाने वाले स्कूलों से तुलना की है। इन तथ्यों के अनुसार बर्दवान के 13 मिशनरी स्कूलों में डोम और चंडाल जाति के केवल चार छात्र थे। इन स्कूलों में 16 सबसे निचली जातियों के 86 छात्रों के पढ़ने की जानकारी भी इस रपट से मिलती है। इसके विपरीत, एडम के ही अनुसार भारतीय स्कूलों में इन्हीं जातियों के 674 छात्र शिक्षा प्राप्त कर रहे थे।[49]

> ब्राह्मणों के उच्चतर सामाजिक दर्जे के बावजूद मुनरो का सर्वेक्षण एक उल्लेखनीय जानकारी देता है कि तमिल स्कूलों में ब्राह्मणों के बजाय वेल्लालर जाति (शूद्र) के अध्यापकों की संख्या अधिक थी। इन स्कूलों में पुराने ग़ैर-ब्राह्मण साहित्यिक और अभिलेखीय ब्योरे और सामग्री को सहेज कर रखा गया था।

भारतीय शिक्षा-प्रणाली में उच्च-शिक्षा का घटक किस प्रकार का था? मद्रास प्रेसीडेंसी में हुए सर्वेक्षणों से निकल कर आता है कि विभिन्न ज़िलों (राजमुंदरी, कोयम्बटूर, गुंटूर, तंजौर, नेल्लोर, उत्तर आरकोट, सलेम और चिंगलपुट, मसलीपट्टम, बेल्लारी, मालाबार और त्रिचुनापल्ली) में 1,094 उच्च-शिक्षा की संस्थाएँ चल रही थीं। रपट में इन्हें कॉलेज शीर्षक के तहत रखा गया है।

इस संस्थाओं में वेदों, शास्त्रों, विधि, खगोलशास्त्र, गणितशास्त्र और नीतिशास्त्र की शिक्षा दी जाती थी। धर्म, तत्त्वमीमांसा और नीति की शिक्षा लेने वाले अधिकतर छात्र ब्राह्मण जाति के होते थे, और आयुर्विज्ञान व खगोलशास्त्र की शिक्षा पाने वाले छात्र विभिन्न पृष्ठभूमियों से आते थे। मालाबार के आँकड़े इसकी मिसाल के तौर पर देखे जा सकते हैं। खगोलशास्त्र पढ़ने वाले 808 छात्रों में केवल 78 ब्राह्मण थे। औषधविज्ञान पढ़ने वाले 194 छात्रों में केवल 31 ही ब्राह्मण थे। राजमुंदरी में औषधि और शल्यक्रिया सीखने वाले पाँच छात्र शूद्र जातियों से थे। स्कूलों में पढ़ाने वाले अध्यापकों की सामाजिक पृष्ठभूमि क्या थी? इनमें ज़्यादा संख्या ब्राह्मण, कायस्थ, सद्गोप और अगुरी जाति के शिक्षकों की थी। लेकिन अन्य तीस जाति-समूहों के अध्यापकों की संख्या भी कम नहीं थी। यहाँ तक कि एडम द्वारा किए गए बंगाल और बिहार के सर्वेक्षण में चंडाल जाति के छह अध्यापक भी पाए गए। उम्र के लिहाज़ से अध्यापकों की आयु तीस के पेटे में थी।

49. एडम ने स्पष्ट किया है कि स्कूलों में ग़ैर-ब्राह्मण उपस्थिति का मतलब यह नहीं था कि वहाँ जातिगत ऊँचनीच की संहिताएँ लागू नहीं थीं। ब्राह्मणों और ग़ैर-ब्राह्मणों (स्वच्छ जातियाँ) को अलग-अलग कमरों में बैठाया जाता था। इन छात्रों को अध्ययन के लिए दिए गए विषयों और अध्ययन-सामग्री के सम्बन्ध में यह अन्तर क़ायम रखा जाता था। *रामायण* और *महाभारत* जैसे महाकाव्यों के अंशों को तो सभी तरह के छात्र याद करते थे, पर दस्तकार जातियों के छात्रों को उनकी अपनी धार्मिक-सामाजिक परम्परा से निकली पुस्तकें पढ़ाई जाती थीं। लिंगम धारण करने वाले छात्र (लिंगायत समाज) उन शास्त्रों का अध्ययन करते थे जो उनके समुदाय के लिए पवित्र माने जाते थे।

इन अध्यापकों, छात्रों और पाठ्यचर्या के बीच क्या सम्बन्ध था? इस प्रश्न का उत्तर हमें विख्यात शिक्षाशास्त्री कृष्ण कुमार ने अपनी रचना *पॉलिटिकल एजेंडा ऑफ़ एजुकेशन* में दिया है :

देशज प्रणाली में पाठ्यचर्या को आकार देना, स्थापित परम्पराएँ और शिक्षक का अपना फ़ैसला, दोनों द्वारा निर्देशित होता था। ग्राम शिक्षक शिक्षणशास्त्र में मौजूद विश्वास और व्यवहार की परम्पराओं तथा ग्रामीण अर्थतंत्र की ज़रूरतों द्वारा निर्देशित होता था। इस प्रकार कुछ ख़ास साहित्यिक पुस्तकों को शिक्षण-योग्य, या पढ़ाई शुरू कर चुके छात्र द्वारा उन पर अधिकार स्थापित करने योग्य पाया जाता था। पाठों के चयन के मामले में सभी शिक्षकों के पास व्यक्तिगत रूप से अपना फ़ैसला और अपनी रुचि को लागू करने के मामले में काफ़ी गुंजाइश रहा करती थी। सुलेख, व्याकरण और भाषा के साथ छात्रों के परिचय के पर्याप्त प्रौढ़ता हासिल कर लेने के बाद उनसे यह अपेक्षा की जाती थी कि वे इन पाठों को ख़ुद से पढ़ लेने में सक्षम हो जाएँगे।

अंक-ज्ञान के सम्बन्ध में पूर्व-औपनिवेशिक ग्रामीण विद्यालयों की पाठ्यचर्या पर भूमि और सम्पत्ति सम्बन्धी दस्तावेज़ों को तैयार करने और उनकी जाँच कर सकने की क्षमता का महत्त्व निश्चय ही काफ़ी ज़्यादा असर रखता था। यहाँ भी शिक्षण सम्बन्धी परम्पराओं, मसलन गुणन सारणियों (पहाड़ा) केवल पूर्णांकों की ही नहीं बल्कि भिन्नों की सारणियों को भी गा-गा कर याद करने के तरीक़े ने उस ठोस आकार को निर्धारित किया था जिसे पाठ्यचर्या ग्रहण करती चली गई थी। शिक्षक व्यक्तिगत रूप से जहाँ अपनी स्वायत्तता अमल में लाता था, वह थी छात्र की प्रगति के अपने आकलन के अनुसार ही शिक्षण प्रक्रिया की गति को निर्धारित करना। यही वह दूसरी विशिष्टता है जिसके मामले में देशज परम्परा औपनिवेशिक प्रणाली की तुलना में सर्वथा भिन्न थी।[50]

कृष्ण कुमार ने ललित कलाओं, ख़ासकर संगीत और नृत्य के मामले में शिक्षक की इस स्वायत्तता और छात्र की प्रगति का आकलन करने की विधि और क्षमता के बारे में कहा है कि इस क्षेत्र में तो गुरु उस समय तक इन्तज़ार करने के लिए स्वतंत्र होता था जब तक छात्र की प्रगति उसकी सोच के हिसाब होती दिखाई नहीं देती थी।

कृष्ण कुमार ने ललित कलाओं, ख़ास कर संगीत और नृत्य के मामले में शिक्षक की इस स्वायत्तता और छात्र की प्रगति का आकलन करने की विधि और क्षमता के बारे में कहा है कि इस क्षेत्र में तो गुरु उस समय तक इन्तज़ार करने के लिए स्वतंत्र होता था जब तक छात्र की प्रगति उसके सोच के हिसाब होती दिखाई नहीं देती थी।

इस शिक्षा-प्रणाली का आर्थिक आधार क्या था? पहली बात तो यह है कि यह एक निहायत ही किफ़ायती शिक्षा-प्रणाली थी। बेल्लारी के कलक्टर ए डी कैम्पबेल ने 17 अगस्त, 1823 को भेजी गई अपनी रपट 'ऑन द स्टेट ऑफ़ एजुकेशन' में लिखा था:

भारतीय स्कूलों में जिस किफ़ायती तरीक़े से बच्चों को लिखना सिखाया जाता था, जिस विधि से अधिक शिक्षित छात्र कम शिक्षित छात्रों को पढ़ाते थे, और पढ़ाने के साथ अपने ही प्राप्त ज्ञान को पुष्ट भी करते चलते थे— निश्चित रूप से प्रशंसनीय था। इस सन्दर्भ में हिन्दुओं की सादगी से युरोपियन भी लाभकारी सबक हासिल कर सकते हैं। हर गाँव में पाए जाने वाले विशाल बरगद के साए तले एक भरीपूरी और सुविधाजनक आबोहवा में ग्रामीण

50. देखें, कृष्ण कुमार (2006), *ग़ुलामी की शिक्षा और राष्ट्रवाद*, ग्रंथशिल्पी, नई दिल्ली : 77-78 (*पॉलिटिकल एजेंडा ऑफ़ एजुकेशन : अ स्टडी ऑफ़ कोलोनियलिस्ट ऐंड नैशनलिस्ट आइडियाज़* (1991/2005), सेज, नई दिल्ली का हिन्दी अनुवाद)।

स्कूल का एक समुचित और सुन्दर दृश्य देखा जा सकता है।[51]

दरअसल, इस शिक्षा-प्रणाली का संचालन ब्रिटिश-पूर्व राज्य-व्यवस्था के तहत किए गए अत्यन्त नफ़ीस क़िस्म के राजकोषीय बन्दोबस्त पर टिका था। इसके ज़रिए राजस्व का एक आवश्यक हिस्सा शिक्षा के लिए निर्धारित कर दिया जाता था। यह प्रक्रिया तरह-तरह की राजनीतिक उथल-पुथल के बावजूद भी लम्बे अरसे तक जारी रही। कैम्पबेल द्वारा पेश की गई रपट बताती है कि अँग्रेज़ों में राजस्व जमा करने की बेपनाह भूख थी। इसके चलते राजस्व-वसूली के विकेन्द्रीकृत ढाँचे का ज़बरदस्त केन्द्रीकरण किया गया। कैम्पबेल ने निष्कर्ष निकाला कि ब्रिटिश औद्योगिक माल थोपे जाने के मुक़ाबले भारतीय औद्योगिक माल बनना और बिकना बहुत कम हो गया। इसका नतीजा मैन्युफ़ेक्चरिंग में लगे भारतीय उद्यमी आर्थिक रूप से बहुत कमज़ोर हो गए। भारतीय शिक्षा-प्रणाली के नष्ट होने के पीछे मुख्य कारण पूरे भारत का क्रमश: दरिद्रीकरण था। ब्रिटिश राज्य भारतीय शिक्षा के किसी भी प्रयास को आर्थिक मदद देने के लिए तैयार नहीं था। कैम्पबेल ने अपने ज़िले के हालात के बारे में लिखा कि वहाँ की 533 शिक्षा संस्थाओं को सरकार एक पैसा देने के लिए तैयार नहीं है। जबकि इससे पहले 'हिन्दू राज' में इस तरह की संस्थाओं को धन और ज़मीन की शक्ल में बड़े-बड़े अनुदान आवश्यकता के अनुसार मिलते रहते थे।[52]

कृष्ण कुमार के मुताबिक़ उपनिवेशवादी हस्तक्षेप की प्रकृति ही कुछ ऐसी थी कि उसके तहत देशी शिक्षा-प्रणाली को अपनी आर्थिक स्वायत्तता से वंचित होना ही था। वे लिखते हैं :

औपनिवेशिक राज्य द्वारा थोड़ा-बहुत शैक्षिक प्रावधान शुरू किए जाने के साथ ही देसी ग्रामीण विद्यालयों ने अपना आर्थिक आधार खो दिया। देसी परम्परा में शिक्षक का ख़र्चा वह समुदाय ही उठाता था जिसकी सेवा शिक्षक द्वारा की जाती थी। नई व्यवस्था में वह औपनिवेशिक सरकार का वेतनभोगी सेवक बन गया। शिक्षक का स्थानीय आबादी के नियंत्रण से निकल कर सरकार के नियंत्रण में चले जाना स्कूलों के स्थानीय समुदाय के कटते चले जाने की प्रक्रिया की शुरुआत करने वाला हुआ। एक बार जब स्कूल चलाने में राज्य का हित जड़ पकड़ गया तो स्थानीय तौर पर उपलब्ध वित्तीय समर्थन का सोता सूखने लगा और इसके चलते राज्य को स्कूली शिक्षा के सभी पहलू अपने हाथ में लेने की इजाज़त भी मिल गई।[53]

छनन सिद्धान्त का दावा था कि शिक्षा और ज्ञान का बहाव ऊपर से नीचे की तरफ़ ही होता है। इस पर व्यंग्य करते हुए एडम ने अपनी रपट में लिखा था : 'इस उसूल के मुताबिक़ कि ज्ञान में ऊपर से नीचे जाने की प्रवृत्ति होती है और वह नीचे से ऊपर नहीं जाता, हमें पहले ज़िला स्कूल बनाने होंगे, फिर परगना स्कूल और फिर ग्रामीण स्कूल।

वर्नाकुलरिस्ट्स और उनकी पैरोकारी

कम्पनी सरकार ने ऐसे किसी भी सुझाव को स्वीकार नहीं किया जो भारत की पहले से चली आ रही शिक्षा-प्रणाली को बेहतर बनाने के लिए उसपर सरकारी कोष से धन ख़र्च करने के बारे में था। ये सुझाव उन लोगों द्वारा दिए गए थे जिन्हें इतिहासकारों ने वर्नाकुलरिस्ट्स

51. कैम्पबेल मद्रास स्थित फ़ोर्ट सेंट जार्ज के बोर्ड ऑफ़ कॉलेज के वरिष्ठ सदस्य भी थे। उनकी रपट 'ऑन द स्टेट ऑफ़ एजुकेशन ऑफ़ द नेटिव्ज़ ऑफ साउथ इंडिया' के लिए देखें, *मद्रास जरनल ऑफ़ लिटरेचर ऐंड साइंस*, अक्तूबर, 1934। इस रपट के उद्धरण धर्मपाल ने भी दिए हैं और फ़ायकेनबर्ग ने भी।

52. कैम्पबेल की रपट के उद्धरणों के लिए देखें, धर्मपाल (2000), *द ब्यूटीफ़ुल ट्री* : 79-82.

53. देखें, कृष्ण कुमार (2006), वही : 50।

की संज्ञा दी है। यह समूह मिली-जुली पृष्ठभूमि के ऐसे लोगों से बना था जो आपस में परिचित होते हुए भी अलग-अलग मुक़ामों पर सक्रिय थे। इनमें विलियम एडम, विलियम कैम्पबेल और ब्रायन होजसन जैसे मिशनरी थे जिन्होंने इस धारणा से शुरुआत की थी कि बाइबिल का प्रचार-प्रसार देशी भाषाओं में करना ही आसान और श्रेयस्कर होगा। इनमें थॉमस मुनरो और लैंसलोट विल्किन्सन जैसे प्रमुख सरकारी अधिकारी थे जो दक्षिण और मध्य भारत के कम्पनी प्रशासन में शीर्ष हैसियत रखते थे। इनमें एक अरसे से भारत में रह रहे फ्रेडिक शोर जैसे कुछ ब्रिटिश पत्रकार और लेखक भी थे जिनकी उपनिवेशवादी हल्कों में पूछ थी।

इन अफ़सरों और पत्रकारों को लगता था कि भारत में उपनिवेशवाद का सच्चा हितसाधन भारतीय भाषाओं में शिक्षा के ज़रिए ही हो सकता है। साथ ही राम कमल सेन और राधाकांत देब जैसी कुछ भारतीय हस्तियाँ भी शामिल थीं जिन्होंने प्राच्यवादियों की सोहबत में रह कर 'कलम लगाने की रणनीति' पर आस्था विकसित कर ली थी। देशी भाषाओं के इन समर्थकों के प्रयास औपचारिक रूप से न सही, कहीं-न-कहीं एक-दूसरे से जुड़ते भी थे। मसलन, एडम की रपट में होजसन के सुझावों और प्रयासों की भूरि-भूरि प्रशंसा मिलती है।

> एडम के अलावा लैंसलोट विल्किन्सन, ब्रायन होजसन और थॉमस मुनरो ने सरकार को भारतीय भाषाओं में शिक्षा के पक्ष में विस्तृत और एडम से अलग तरह की राय दी थी। वे चाहते थे कि अँग्रेज़ी के बजाय पश्चिमी विचार और ज्ञान-विज्ञान की तालीम भारतीय भाषाओं और संस्कृत के ज़रिए दी जाए।

बेंटिक के आदेश पर बंगाल और बिहार में शिक्षा का सर्वेक्षण करने वाले विलियम एडम के विचार वर्नाकुलरिस्ट्स पहलक़दमी के सन्दर्भ में उल्लेखनीय हैं।[54] उन्होंने आंग्लवादियों द्वारा प्रस्तावित फ़िल्ट्रेशन थियरी को जम कर आड़े हाथों लिया था। छनन सिद्धान्त का दावा था कि शिक्षा और ज्ञान का बहाव ऊपर से नीचे की तरफ़ ही होता है। इसपर व्यंग्य करते हुए एडम ने अपनी रपट में लिखा था : 'इस उसूल के मुताबिक़ कि ज्ञान में ऊपर से नीचे जाने की प्रवृत्ति होती है और वह नीचे से ऊपर नहीं जाता, हमें पहले ज़िला स्कूल बनाने होंगे, फिर परगना स्कूल और फिर ग्रामीण स्कूल। इसका मतलब तो यह हुआ कि हमें तब तक ज़िला स्कूल नहीं क़ायम करने चाहिए जब तक प्रान्तीय कॉलेज न क़ायम हो जाएँ, और उन्हें तब तक नहीं क़ायम करना चाहिए जब तक विश्वविद्यालय न स्थापित कर दिए जाएँ, और सार्वदेशिक संस्थाओं के क़ायम होने तक विश्वविद्यालय भी नहीं स्थापित किए जाने चाहिए।'[55] अपनी तीसरी रपट (28 अप्रैल, 1938) के दूसरे अध्याय में एडम ने भारतीय भाषाओं में दी जाने वाली शिक्षा और उसकी समग्र प्रणाली को सुधारने और मज़बूत करने की एक 'सर्वाधिक आसान, सुरक्षित, किफ़ायती, लोकप्रिय और प्रभावी' योजना प्रस्तुत की। बेंटिक ने जब नई शिक्षा-नीति का आदेश पारित किया, तो उसके ठीक दो महीने पहले एडम की यह स्कीम उनके हाथ में थी।

इसमें स्पष्ट राय दी गई थी कि केवल भारतीय भाषाओं में शिक्षा दे कर ही राष्ट्रीय शिक्षा की उचित और हितकारी प्रणाली की स्थापना की जा सकती है और भारतवासियों

54. देखें, विलियम एडम की रपट (1868), *एडम्ज़ रिपोर्ट ऑन वर्नाकुलर एजुकेशन इन बंगाल ऐंड बिहार*, सब्मिटेड टू गवर्नमेंट इन 1835, 1836 ऐंड 1838, होम सेक्रेटेरियट प्रेस, कलकत्ता : 258-318।

55. विलियम एडम की रपट (1868), वही : 258।

को बौद्धिक और नैतिक सुधार की प्रक्रिया से गुज़ारा जा सकता है। अपनी योजना को एडम ने एक तरह के पायलट प्रोजेक्ट की तरह कल्पित करते हुए सुझाव दिया था कि पहले इसे प्रायोगिक रूप से एक-दो ज़िलों में लागू करके देखा जाए। एडम चाहते थे कि उन ज़िलों की आबादी का एक सर्वेक्षण करके पहले यह सुनिश्चित किया जाए कि वहाँ बच्चों, वयस्कों और घरेलू शिक्षा की स्थिति क्या है। फिर स्कूल स्तर की चार किताबें तैयार की जाएँ– पहली किताब के ज़रिए दस्तावेज़-लेखन, पत्र-लेखन, कोश-कला और चाणक्य नीति से सम्बन्धित शिक्षा दी जाए। दूसरी किताब कला, विज्ञान, विनिर्माण, वाणिज्य, मशीनरी, कृषि की शिक्षा के लिए हो। तीसरी पुस्तक नैतिक और क़ानूनी सम्बन्धों, बैंकिंग, बचत और दण्ड संहिता के विषयों को सिखाए। चौथी पुस्तक स्थानीय और सामान्य इतिहास, ज्योतिष और भूगोल की शिक्षा दे। हर ज़िले में एक स्थानीय एजेंट और परीक्षक की नियुक्ति हो जो पुस्तकों के वितरण, समय-समय पर परीक्षा लेने और पुरस्कार आदि देने का बन्दोबस्त करे। पाँच ज़िलों के प्रत्येक सम्भाग पर एक इंस्पेक्टर नियुक्त हो जो परीक्षकों के कामकाज की देखरेख करे। ग्रामीण स्कूलों की एसोसिएशनें गठित की जाएँ जिनके पास गाँव के स्कूलों के निरीक्षण और नियंत्रण के अधिकार हों। ज़िला स्कूलों के भारतीय भाषा विभागों को ज़िला नॉर्मल स्कूलों में बदल दिया जाए।

एडम का अनुमान था कि उनके प्रयोग में अधिक धन ख़र्च नहीं होगा और एक ज़िले पर साल में कुल 9,975 रुपए (831 रुपये प्रति माह) ख़र्च होंगे। पाँच ज़िलों पर सभी की तनख़्वाह आदि मिला कर हर साल 49,860 रुपए (4,155 रुपए प्रति माह) का व्यय ही होगा। एडम का कहना था कि इस रकम से ज़्यादा तो कई युरोपीय कर्मचारी सालाना वेतन प्राप्त करते हैं। अगर यह योजना लागू की जाती तो एक ज़िले में एक साल में एक किताब के आधार पर 1,350 छात्रों को शिक्षित किया जा सकता था, और तब एक छात्र की शिक्षा पर केवल दस आना प्रति महीने का ही ख़र्च आता। 1838 में ही एडम की योजना जीसीपीआई के सामने रखी गई। कमेटी ने कहा कि बीस ग्रामीण स्कूलों में यह प्रयोग करके देखा जा सकता है, बशर्ते उसपर प्रति माह ख़र्च होने वाली 600 से 720 रुपए की रकम उस राशि में से नहीं दी जाएगी जिसे अँग्रेज़ी-शिक्षा पर ख़र्च किया जाना है। लेकिन, यह छोटी-सी रियायत भी मैकॉले नामक दीवार से टकरा गई जो उस समय भी कमेटी के अध्यक्ष थे। उन्होंने एडम के सुझाव के मुताबिक़ चार नई किताबें तैयार करने का सुझाव ठुकरा दिया और उनकी योजना को 'कुछ ज़्यादा ही महँगा' बताया। कुल मिला कर 1938-1939 की सालाना रपट में जीसीपीआई ने एडम की योजना को अव्यावहारिक कह कर ठण्डे बस्ते में डाल दिया।

एडम के अलावा लैंसलोट विल्किन्सन, ब्रायन होजसन और थॉमस मुनरो ने सरकार को भारतीय भाषाओं में शिक्षा के पक्ष में विस्तृत और एडम से अलग तरह की राय दी थी। वे चाहते थे कि अँग्रेज़ी के बजाय पश्चिमी विचार और ज्ञान-विज्ञान की तालीम भारतीय भाषाओं और संस्कृत के ज़रिए दी जाए।

एडम के अलावा लैंसलोट विल्किन्सन, ब्रायन होजसन और थॉमस मुनरो ने सरकार को भारतीय भाषाओं में शिक्षा के पक्ष में विस्तृत और एडम से अलग तरह की राय दी थी। वे चाहते थे कि अँग्रेज़ी के बजाय पश्चिमी विचार और ज्ञान-विज्ञान की तालीम भारतीय भाषाओं और संस्कृत के ज़रिए दी जाए। भोपाल में सहायक रेज़ीडेंट के पद पर कार्यरत और प्राच्यवादी रुझानों से सम्पन्न विल्किन्सन उज्जैन के पास सीहोर में स्थानीय पण्डितों के साथ मिल कर पारम्परिक ज्ञान के पश्चिमी ज्ञान से

संयोग के प्रयोगों में लगे थे। विल्किन्सन को एक इतिहासकार ने नव-प्राच्यवादी भी करार दिया है।[56] वर्नाकुलरिस्ट्स में एक ऐसा रुझान भी था जो ओरिएंटलिस्ट्स द्वारा क्लासिक पूर्वी भाषाओं (संस्कृत-अरबी-फ़ारसी) पर ज़ोर दिए जाने की कड़ी आलोचना में व्यक्त होता था। इनमें होजसन की भूमिका प्रमुख थी। उनका तर्क था भारत इन पूर्वी भाषाओं में संचित 'मृत' ज्ञान और उसके प्रति 'मिथ्या' गर्व से भरा हुआ है। उनके लिहाज़ से क्लासिक पूर्वी भाषाओं का ओरिएंटलिज़्म भी एक तरह की फ़िल्ट्रेशन थियरी पर आधारित है, जबकि ज़रूरत इस बात की है कि शिक्षा का साधारण जन से सीधा संवाद हो। होजसन श्रीरामपुर के विख्यात मिशनरी विलियम कैरी के शिष्य थे। कैरी और सिरामपुर के मिशनरियों द्वारा चलाए गए स्कूलों में बांग्ला भाषा में शिक्षा पर ज़ोर दिया जाता था। कैरी के देहान्त के बाद होजसन ने उनकी परम्परा को आगे बढ़ाते हुए आंग्लवादी शिक्षा-कार्यक्रम को पहली बार 'मैकॉलेवाद' की संज्ञा दी, और क्लासिकल भाषाओं के बजाय क्षेत्रीय भाषाओं में शिक्षा की वकालत की।[57] मुनरो की 10 मार्च, 1826 की शिक्षा सम्बन्धी टिप्पणी उनके द्वारा कराए गए सर्वेक्षण से निकाले गए नतीजों पर आधारित थी। उन्होंने लंदन स्थित ईस्ट इंडिया कम्पनी के कोर्ट ऑफ़ डायरेक्टर्स को अपनी जो योजना भेजी थी, वह इतिहास में दक्षिण भारत में जन-शिक्षा के एक ब्लूप्रिंट की तरह दर्ज है। फ्रायकेनबर्ग इसकी प्रशंसा में कहते हैं कि इस तरह की योजना फिर अगली एक सदी तक प्रस्तावित नहीं की गई। यह दूरस्थ ग्रामों से लेकर केन्द्र में स्थित नगरों तक बेहतर प्रशिक्षण प्राप्त शिक्षकों का एक नेटवर्क बनाने पर आधारित थी। इस पर एक साल में अड़तालीस हज़ार रुपए का ख़र्च आना था। मुनरो ने एक कमेटी ऑफ़ पब्लिक इंस्ट्रक्शन (सीपीआई) गठित की जो मद्रास स्कूल बुक सोसाइटी के साथ मिल कर उनकी योजना पर विस्तार से काम कर रही थी। एडम, मुनरो, होजसन और विल्किन्सन को आंग्लवादियों की इस दावेदारी पर भी सन्देह था कि अँग्रेज़ी शिक्षा की माँग सारे देश में हो रही है। उनका कहना था कि केवल बड़े शहरों के अभिजन ही अँग्रेज़ी का राग अलाप रहे हैं। बाक़ी सारा देश अभी भी भारतीय भाषाओं में शिक्षा प्राप्त करना चाहता है।

आंग्लवादी भारतीय भाषाओं की परस्पर भिन्नता पर ज़ोर दे कर साबित करना चाहते थे कि कई अलग-अलग भाषाओं की मौजूदगी राज्य करने और ज्ञानोत्पाद की प्रक्रिया में अराजकता पैदा कर देती है। देशी भाषाओं की पैरोकारी कर रहे वर्नाकुलरिस्ट्स ने इसके जवाब में तर्क दिया कि भाषाई बहुलता को बहुत बढ़ा-चढ़ा कर पेश किया जा रहा है। बैप्टिस्ट मिशन के प्रकाशन *फ्रेंड्स ऑफ़ इंडिया* ने 1835 में 'लॉर्ड्स प्रेयर' को हिन्दी, बंगाली, संस्कृत और मराठी में छाप कर एक विश्लेषणात्मक तुलना प्रकाशित की जो

आंग्लवादी भारतीय भाषाओं की परस्पर भिन्नता पर ज़ोर देकर साबित करना चाहते थे कि कई अलग-अलग भाषाओं की मौजूदगी राज्य करने और ज्ञानोत्पाद की प्रक्रिया में अराजकता पैदा कर देती है। देशी भाषाओं की पैरोकारी कर रहे वर्नाकुलरिस्ट्स ने इसके जवाब में तर्क दिया कि भाषाई बहुलता को बहुत बढ़ा-चढ़ा कर पेश किया जा रहा है।

---

56. लैंसलोट विल्किन्सन (1805-1841) बंबई सिविल सेवा के अफ़सर थे। भोपाल में तैनातगी के दौरान उन्होंने संस्कृत-पाण्डित्य के तत्कालीन केन्द्र उज्जैन के आसपास सक्रिय पण्डितों को यह समझाने में सफलता प्राप्त की कि उन्हें न्यूटन और कॉपरनिकस के सिद्धान्तों का अपने पारम्परिक विज्ञान और गणित के साथ तालमेल बैठाना चाहिए। इन पण्डितों में ओंकार भट्ट का नाम प्रमुख है जिन्होंने खगोलशास्त्र की सैद्धान्तिक, पुराणिक और कॉपरनिकसीय प्रणालियों का हिन्दी में तुलनात्मक अध्ययन प्रकाशित किया था। विल्किन्सन ने बापूदेव शास्त्री के साथ मिल कर *सूर्य सिद्धान्त* और *सिद्धान्त शिरोमणि* के अँग्रेज़ी अनुवाद भी किए थे। भोपाल में ही विल्किन्सन ने केवल 36 वर्ष की अल्पायु में ही आख़िरी साँस ली।

57. ब्रायन होजसन के बारे में जानने के लिए देखें, पाद टिप्पणी संख्या 98।

बताती थी कि इन भाषाओं के कितने शब्द एक-दूसरे से कितने मिलते-जुलते हैं, कुछ तो एकदम समान हैं और कुछ में इतना कम फ़र्क़ है कि उन्हें दूसरे भाषा-भाषी द्वारा समझना कठिन नहीं है।

इस आरोप के जवाब में कि देशी भाषाओं में युरोपीय भाषाओं से अनुवाद करने की क्षमता का अभाव है, वर्नाकुलरिस्ट्स ने कहा कि पहले तो अँग्रेज़ी से बहुत ज़्यादा अनुवाद की आवश्यकता ही नहीं है। इसके बाद उन्होंने कुछ पुस्तकों का अनुवाद करके दिखाया ताकि साबित किया जा सके कि देशी भाषाओं में ज़रूरत पड़ने पर सफल अनुवाद किए जा सकते हैं। कुल मिला कर तथ्यात्मक रूप से इन लोगों की दलीलें आसानी से ख़ारिज नहीं की जा सकती थीं। वर्नाकुलरिस्ट्स-उद्यम की प्रशंसा करने वाले विंडहॉज़ेन ने उसके लक्ष्यों का सूत्रीकरण इस प्रकार किया है : भारत में अपराध बहुत होते हैं और उसका मुख्य कारण अज्ञान है। इसलिए अगर देशी भाषाओं में जन-शिक्षा दी जाएगी तो अपराधों में कटौती होगी। दूसरे, यह जन-शिक्षा भारतवासियों को उनके प्रमाद से निकाल कर अँग्रेज़ों द्वारा प्रवर्तित शासन के उसूलों के प्रति सचेत करेगी। तीसरे, यह प्रक्रिया अँग्रेज़ों को भी कुछ भारतीय भाषाएँ सीखने की प्रेरणा देगी जिसके परिणामस्वरूप उपनिवेशवादी भारतवासियों के बिरादर के तौर पर सामने आएँगे, न कि मालिक के तौर पर।[58]

प्रश्न यह है कि देशी भाषाओं में जन-शिक्षा की स्पष्ट रूप से वकालत करने वाली इस मुहिम का अर्थ-निरूपण कैसे किया जाना चाहिए? इन विवरणों से एक बात तो साफ़ निकल कर आती है कि ये लोग केवल अँग्रेज़ी-शिक्षा पर सरकारी पैसा ख़र्च करने के आग्रह के विरोध में थे, लेकिन साथ में वे विकेन्द्रीकृत और आर्थिक रूप से समाज-आधारित पारम्परिक शिक्षा-प्रणाली की निरन्तरता के पक्षधर भी नहीं थे। इनके सुझाव कम्पनी सरकार से बार-बार अपील करते नज़र आते हैं कि उसे देशी भाषाओं में शिक्षा देने वाली भारतीय शिक्षा-प्रणाली को केन्द्रीय प्राधिकार में लाना चाहिए और उसके आर्थिक पोषण को अपने हाथ में ले कर सरकारी ख़ज़ाने से वेतन पाने वाले अध्यापकों का वर्ग तैयार करना चाहिए (ये नए अध्यापक पारम्परिक अध्यापकों से किन अर्थों में अलग थे, इसकी ज़िक्र आगे किया गया है)। किसी भी दृष्टि से देखा जाए, वर्नाकुलरिस्ट्स देशी भाषाओं में पश्चिमी विद्या का शिक्षण देने के हामी थे, न कि भारतीय विद्या का। इस तरह वे दो नए परिवर्तनों की वकालत कर रहे थे : पहला, पारम्परिक शिक्षा-प्रणाली को आधुनिक केन्द्रीकृत प्रणाली में बदल देना चाहिए, और देशी भाषाओं में दी जा रही शिक्षा से भारतीय विद्या का घटक निकाल कर उसमें पश्चिमी विद्या का घटक जोड़ देना चाहिए। अगर एक रूपक के तहत बेकन और देकार्त के दर्शन को नव्य न्याय और मीमांसा के मुक़ाबले रख कर देखा जाए तो आंग्लवादियों और वर्नाकुलरिस्ट्स में अन्तर केवल इतना था कि आंग्लवादी फ़्रांसिस बेकन के सिद्धान्तों की शिक्षा अँग्रेज़ी में दे कर छनन के ज़रिए साधारण लोगों तक उसे पहुँचाने के हामी थे, जबकि वर्नाकुलरिस्ट्स थोड़े-बहुत आपसी मतभेदों के साथ उसकी शिक्षा सीधे-सीधे भारतीय भाषाओं में ही देना चाहते थे। नव्य न्याय और मीमांसा जैसे भारतीय दर्शनों की शिक्षा देने की गुंजाइश न तो आंग्लवादियों

इन विवरणों से एक बात तो साफ़ निकल कर आती है कि ये लोग केवल अँग्रेज़ी-शिक्षा पर सरकारी पैसा ख़र्च करने के आग्रह के विरोध में थे, लेकिन साथ में वे विकेन्द्रीकृत और आर्थिक रूप से समाज-आधारित पारम्परिक शिक्षा-प्रणाली की निरन्तरता के पक्षधर भी नहीं थे।

58. देखें, जॉन डी. विंडहॉज़ेन (1964), वही : 254-270।

के परिप्रेक्ष्य में थी, न ही वर्नाकुलरिस्ट्स के परिप्रेक्ष्य में।

औपनिवेशिक शिक्षा–प्रणाली :

उपनिवेशवाद के पहले से चली आ रही शिक्षा-प्रणाली के व्यापक प्रसार और विकेन्द्रीकृत संरचना का ब्रिटिश अधिकारियों और मिशनरियों द्वारा दिया गया जो संक्षिप्त ख़ाका ऊपर पेश किया गया है, उससे एक बात तो कमोबेश साफ़ हो ही जाती है कि इसका किरदार जन-शिक्षा का था, न कि अभिजन-शिक्षा का। शताब्दियों से इस प्रणाली को आर्थिक पोषण देने वाले स्थानीय हाथ उपनिवेशवादी शोषण के कारण कमज़ोर हो गए थे जिसके कारण यह दरकने लगी थी।

लेकिन हालात ऐसे भी नहीं थे कि यह प्रणाली खण्डहर में बदल गई हो और उसकी जगह एक समूची नई प्रणाली स्थापित करना ज़रूरी हो गया हो। अगर इस प्रणाली में कुछ कमियाँ थीं भी तो क्या उन्हें दूर करने का प्रयास किए बिना इसके समूल नाश का फ़ैसला लेना किस हद तक उचित था? दिलचस्प बात यह है कि हमारे लिए यह प्रश्न विचारणीय हो सकता है, पर उपनिवेशिवादियों ने इसपर एक पल गँवाना भी व्यर्थ समझा। कारण?

उपनिवेशवादियों की निगाह में भारतीय चरित्र में जो भी ख़ामियाँ थीं, उनमें सुधार किया ही नहीं जा सकता था, क्योंकि वे या तो प्रजातिमूलक थीं या फिर भारत की गरम आबोहवा के कारण पैदा हुई विकृतियाँ थीं। इसलिए उपनिवेशवादियों की निगाह में ज़रूरी था कि ऐसी लाइलाज भारतवासियों की पारम्परिक संस्थाओं का अन्त कर दिया जाना चाहिए, और उनकी जगह सर्वथा नई संस्थाएँ क़ायम की जानी चाहिए।

उपनिवेशवादियों की इस समझ की रोशनी में यह देख कर ताज्जुब नहीं होता कि एक तरफ़ तो वे भारतीय समाज की कामकाजी ज़रूरतें पूरी करने वाली शिक्षा देने और साथ में उच्च-स्तरीय ज्ञानोत्पादन में भी सक्षम इस प्रणाली को इतिहास के कूड़ेदान में फेंक देना चाहते थे, और दूसरी तरफ़ उनकी ओर से शिक्षा का जो नया बन्दोबस्त प्रस्तावित किया जा रहा था वह अपने चरित्र में बेहद केन्द्रीकृत, अभिजनोन्मुखी और शिक्षा-व्यवस्था को सामाजिक पहलक़दमी से काट कर राज्य पर निर्भर और मातहत कर देने वाला था। परमेश आचार्य ने शिक्षा-प्रणाली और समाज के गहन रिश्तों के बारे में बताते हुए दिखाया है कि उन्नीसवीं सदी के आख़िरी वर्षों में बंगाल के विभागीय प्राथमिक स्कूलों में हुई असाधारण बढ़ोतरी का रहस्य क्या था, और उनका क्या परिणाम निकला :

> धार्मिक वर्जनाओं, सामाजिक पूर्वग्रहों और ग्रामीण समुदायों की शिक्षा के प्रति उच्च–वर्गों के विद्वेषपूर्ण रवैए के कारण देशी भाषाओं की शिक्षा–प्रणाली में भागीदारी के रास्ते में निचले वर्गों को कई तरह की बाधाओं का सामना करना पड़ता था। लेकिन, इसके बावजूद यह भी एक सच्चाई थी कि इस प्रणाली ने समाज में अपने क़दम गहराई से जमा लिए थे।

धार्मिक वर्जनाओं, सामाजिक पूर्वग्रहों और ग्रामीण समुदायों की शिक्षा के प्रति उच्च-वर्गों के विद्वेषपूर्ण रवैए के कारण देशी भाषाओं की शिक्षा-प्रणाली में भागीदारी के रास्ते में निचले वर्गों को कई तरह की बाधाओं का सामना करना पड़ता था। लेकिन, इसके बावजूद यह भी एक सच्चाई थी कि इस प्रणाली ने समाज में अपने क़दम गहराई से जमा लिए थे।

सदियों से इस प्रणाली के साथ रहने के कारण जनता का इसके साथ अन्तरंग सम्बन्ध स्थापित हो चुका था। इसके अतिरिक्त पारम्परिक व्यवस्था में एक तरह की ऊर्ध्वगामिता भी दिखाई देती थी। इसी कारण से एडम ने अवलोकन किया था : 'देशी स्कूलों में पढ़ने वाली (निचली) जातियाँ संख्या में इतनी तो थीं

ही कि उनसे ऐसे अन्य और निर्भर कारणों की मौजूदगी साबित हो जाती थी जो देशज समाज के कमज़ोर वर्ग को अपने हालात सुधारने के लिए प्रेरित करने के साथ-साथ साक्षरता से होने वाली उन उपलब्धियों से लाभान्वित करते थे जिनसे उन्हें अभी तक वंचित रखा गया है।

उल्लेखनीय है कि देशी शिक्षा-प्रणाली स्वाभाविक मृत्यु नहीं मरी। दरअसल, उसके प्राण तो शिक्षा की एक सम्पूर्ण प्रणाली क़ायम करके ब्रिटिश शासकों द्वारा ले लिए गए। उन्होंने पाठशाला-प्रणाली से पूरी तरह भिन्न प्राथमिक स्कूल-प्रणाली की शुरुआत की जो ब्रिटिश मॉडल की उच्च-शिक्षा तक जाती थी। ... इस कथित 'सम्पूर्ण शिक्षा-प्रणाली' ने अन्ततः देशी-प्रणाली को अपने शिकंजे में ले कर शक्तिहीन कर दिया। यह पहले ही बताया जा चुका है कि 1881-1882 में विभागीय संस्थानों में शामिल किए गए 50,000 निचले स्तर के स्कूल दरअसल मूलतः देशी ग्रामीण स्कूल ही थे। ... इस तथ्य से यह संकेत भी मिलता है कि प्राथमिक शिक्षा की ब्रिटिश प्रणाली की शुरुआत के बाद भी देशी पाठशाला-प्रणाली पूरे बंगाल में ख़ासी फैली हुई थी। देशी स्कूलों के विभागीय स्कूलों में परिवर्तित होने की प्रक्रिया ने उन्हें उनकी अन्तर्निहित स्वतःस्फूर्तता और गतिशीलता से वंचित कर दिया। बाह्य एजेंसी का नियंत्रण जैसे-जैसे मज़बूत हुआ, अध्यापकों की नेतृत्वकारी भूमिका और ग्रामीण स्कूलों को चलाने में गाँव वालों द्वारा निभाई जाने वाली भूमिका सीमित होती चली गई।[59]

उल्लेखनीय है कि देशी शिक्षा-प्रणाली स्वाभाविक मृत्यु नहीं मरी। दरअसल, उसके प्राण तो शिक्षा की एक सम्पूर्ण प्रणाली क़ायम करके ब्रिटिश शासकों द्वारा ले लिए गए। उन्होंने पाठशाला-प्रणाली से पूरी तरह भिन्न प्राथमिक स्कूल-प्रणाली की शुरुआत की जो ब्रिटिश मॉडल की उच्च-शिक्षा तक जाती थी।

कृष्ण कुमार ने अपनी पूर्वोद्धृत रचना में बेहतरीन ढंग से उपनिवेशवादियों द्वारा स्थापित की गई शिक्षा-प्रणाली का वर्णन करते हुए दिखाया है कि यह पारम्परिक प्रणाली से कितने मूलभूत अर्थों में भिन्न थी। इस प्रणाली में न तो शिक्षक के सोच का कोई महत्त्व था, न ही छात्र की प्रगति के आकलन की उसकी क्षमता और दायित्व का। सब कुछ पूर्व-निर्धारित पाठ्यक्रमों, पाठ्यपुस्तकों, और परीक्षा के ढाँचे पर निर्भर था जिनकी रचना में शिक्षक की कोई भूमिका नहीं थी। शिक्षकों के 'बौद्धिक सन्दर्भों से रहित' प्रशिक्षण के लिए चलने वाले नॉर्मल स्कूलों को उपनिवेशवादियों ने 'सामाजिक उथल-पुथल के आग्रहों को नरम करने' के लिए भी इस्तेमाल किया। शिक्षक को इस नई प्रणाली ने एक ऐसे वेतनभोगी कर्मचारी में बदल दिया जिसे योजनापूर्वक बहुत कम वेतन दिया जाना था ताकि समाज के सबसे बेचारे और निष्फल लोग ही शिक्षण-कार्य के लिए आगे आएँ। प्राथमिक शिक्षक को अँग्रेज़ हुक्मरान केवल पाँच से पन्द्रह रुपए मासिक देते थे, जबकि तब के शिक्षा निदेशक को दो हज़ार रुपए महीने और शिक्षा निरीक्षक को सौ से पाँच सौ रुपए महीने मिलते थे। इनके मुक़ाबले शिक्षक एक दब्बू मातहत की स्थिति में रहने के लिए मजबूर था। उन्नीसवीं सदी ख़त्म होने तक औपनिवेशिक शिक्षा में तक़रीबन यही स्थिति रही। इसका परिणाम क्या निकला? कृष्ण कुमार के मुताबिक़ :

चूँकि औपनिवेशिक प्रशासन शिक्षक पर इस बात का भरोसा ही नहीं कर सकता था कि वह अपने छात्रों की निष्पक्ष परीक्षा ले सकता है, इसलिए उसने परीक्षा की एक ऐसी केन्द्रीकृत प्रणाली विकसित की जिसे गोपनीयता और नौकरशाही कर्मकाण्ड के आभामण्डल के तहत काम करना था। छात्रों की विफलता की असीमित

59. देखें, परमेश आचार्य (1978), वही।

संख्या को वैध ठहराने की अपनी क्षमता के चलते इसने सामाजिक नियंत्रण की एक संस्था की भूमिका निभाई। परीक्षा प्रणाली ने विफलता की सारी ज़िम्मेदारी प्रणाली अथवा संस्था से हटा कर अकेले छात्र पर डाल दी। विफलता के भय ने शिक्षकों और छात्रों को परीक्षा की विशिष्ट माँगों पर अपना ध्यान केन्द्रित करने पर मजबूर कर दिया जो निरपवाद रूप से निर्धारित पाठ्यपुस्तक की विषयवस्तु से जुड़ी हुई थीं। शिक्षक का काम महज़ छात्र को ऐसे उत्तरों के लिए तैयार कर देने का हो गया जिन्हें वह अपनी परीक्षा-पुस्तिका में उतार दे और यह करने का तार्किक तरीक़ा यही हो सकता था कि शिक्षण को पाठ्यपुस्तक की विषयवस्तु तक ही सीमित कर दिया जाए।[60]

उपनिवेशवादी शिक्षा-प्रणाली, जो न केवल स्वयं को आधुनिक कहती थी और जिसे आज तक आधुनिक माना भी जाता है, के केन्द्र में पाठ्यपुस्तक नामक परिघटना थी। इस परिघटना की तत्कालीन प्रबलता (जो आज भी क़ायम है) ने व्यक्ति और समाज के जीवन में ज्ञान की अवधारणा को एक ऐसा रूप दिया जिससे भारतीय समाज पूर्व-परिचित नहीं था। कृष्ण कुमार ने भारत की 'पाठ्यपुस्तक संस्कृति' की पहले तो बारीक़ी से जाँच-पड़ताल की और फिर पता लगाया कि शिक्षा पर छाए हुए इस संस्कृति के वर्चस्व ज्ञान के अर्जन को क्या दिशा दी। इस वर्चस्व के कारण कोर्स की किताब के अलावा किसी और किताब को पढ़ने का मतलब था निरपवाद निन्दा और कड़ी पिटाई। यानी कोर्स के बाहर किसी भी तरह का अध्ययन करना जोखिम भरा काम बन गया था। पाठ्यपुस्तकीय ज्ञान ही जीवन के लिए उपयोगी रह गया, क्योंकि राज्य उसी की परीक्षा के रूप में डिग्री रूपी संस्तुति देता था। एक चमकदार प्रेक्षण में कृष्ण कुमार ने अँग्रेज़ों के ज़माने में छात्र के लिए 'उपयोगी' या 'उपयुक्त' रह गए ज्ञान के दायरे की जानकारी इस प्रकार दी है :

इस प्रकार ज्ञान के अन्य सारे रूप इस 'पाठ्यपुस्तक संस्कृति' द्वारा अवैध बना दिए गए थे। अवैध बना दिया गया यह क्षेत्र काफ़ी बड़ा था : इसके दायरे में व्यवहारत: उपनिवेशित समाज की समूची संस्कृति आ जाती थी, यानी इसकी परम्पराएँ, धर्म, लोककथाएँ और इसके कौशल, कलाएँ, और विज्ञान सभी कुछ।

ज्ञान के इस समूचे वर्णक्रम से स्कूलों-कॉलेजों को कुछ भी लेना-देना नहीं था— न तो इसके लिखित पाठों से (जो कि बहुतेरे थे) और न ही इससे कहीं ज़्यादा मात्रा में मौजूद मौखिक पाठों से। ऐसे पाठ निर्धारित पाठ्यचर्या के दायरे में नहीं आते थे और स्कूली ज्ञान के अंग के बतौर उनकी गिनती नहीं की जाती थी। उनसे परिचित होना और यहाँ तक उनपर अधिकार रखना शिक्षा के रूप में लिया ही नहीं जाता था। छात्र के लिए वे भावनात्मक रूप से कितने भी अर्थपूर्ण न रहे हों, शिक्षक न तो उनका उल्लेख कर सकते थे और न ही कक्षा के भीतर उनका कोई उपयोग कर सकते थे।[61]

अभय कुमार दुबे वरिष्ठ पत्रकार एवं समाज विश्लेषक हैं। विगत दो दशक से विकासशील समाज अध्ययन पीठ (सी एस डी एस) दिल्ली में प्रोफ़ेसर हैं, भारतीय भाषा कार्यक्रम के निदेशक हैं एवं हिन्दी शोध पत्रिका *प्रतिमान* के सम्पादक हैं।

सम्पर्क : abhaydubey@csds.in

60. विस्तार से किए गए इस विश्लेषणात्मक विवरण के लिए देखें, कृष्ण कुमार (2006), 'औपनिवेशिक शिक्षा के तहत स्कूल शिक्षक' और 'एक कमज़ोर पेशे के लिए प्रशिक्षण', वही : 89-92।

61. पाठ्यपुस्तकीय संस्कृति के लिए देखें, कृष्ण कुमार (1988), *'ओरिजिंस ऑफ़ इंडियाज़ ''टेक्स्टबुक कल्चर'' : कम्परेटिव एजुकेशन रिव्यू*, खण्ड 32, अंक 4 : 452-464. इसके अलावा देखें, कृष्ण कुमार (2006), वही : 73।

भाषा की घण्टी और थिएटर इन एजुकेशन

सुरभि चावला

एक अध्यापक शिक्षक के रूप में मेरा सरोकार मुख्यतः दो कार्यक्रमों से है– प्रारम्भिक शिक्षा का दो-वर्षीय पाठ्यक्रम 'डीएलएड' और पूर्व-विद्यालयी शिक्षा पाठ्यक्रम 'डीपीएसई'। ये दोनों ही पाठ्यक्रम अध्यापकों की सेवा-पूर्व तैयारी से जुड़े हैं। मैं अपने काम को लेकर बहुत ही उत्साहित रहती हूँ। इसलिए, कुछेक प्रकार की विलक्षण कल्पनाएँ मेरे मानस में आकार लेती रहती हैं और इनके माध्यम से मैं अपनी कक्षा 'भाषा शिक्षण' एवं अन्य विषयों में भी नवाचार करने के भरपूर प्रयास करती हूँ। भिन्न-भिन्न पाठ्यचर्यक विषयों जैसे– भाषा, सामाजिक विज्ञान, भूगोल, इतिहास की मूर्त-अमूर्त अवधारणाओं को थिएटर इन एजुकेशन के माध्यम से कैसे विद्यार्थियों तक पहुँचाया जा सकता है, ऐसे बहुत-से सफल प्रयास मैंने अपनी कक्षाओं में किए हैं।

हिन्दी की पाठ्यपुस्तक का कोई भी पाठ 'थिएटर इन एजुकेशन' के ज़रिए विद्यार्थियों तक प्रभावशाली ढंग से पहुँच सकता है, ऐसा एक अनुभव साझा करना चाहती हूँ।

अपना अनुभव बताने से पहले यह स्पष्ट करना चाहती हूँ कि किसी भी अवधारणा या पाठ को नाटक के रूप में प्रस्तुत करना 'थिएटर एन एजुकेशन' नहीं है। ऐसा बताना इसलिए अनिवार्य है क्योंकि विद्यालयों की मॉनीटरिंग के दौरान मैंने पाया कि अध्यापक हिन्दी की पाठ्यपुस्तक में दी गई कहानी या कविता और कभी-कभी यात्रा वृत्तान्त को नाटक में रूपान्तरित करके पढ़ाते हैं और कहते हैं कि वे अपनी कक्षा में 'थिएटर इन एजुकेशन' को शिक्षणशास्त्रीय युक्ति के रूप में इस्तेमाल कर रहे हैं। इसी तरह से पर्यावरण अध्ययन की कक्षा में जल चक्र, ऊर्जा व बल को पढ़ाते समय नाटक किया जा रहा था, सामाजिक विज्ञान की कक्षा में 'पलायन' की अवधारणा को नाटक द्वारा समझाने का प्रयास किया जा रहा था और कहा यह जा रहा था कि 'थिएटर

इन एजुकेशन' को अवधारणाएँ स्पष्ट करने के लिए काम में लाया जा रहा है। इन उदाहरणों को ध्यान में रखते हुए मैं यह बताना ज़रूरी समझ रही हूँ कि पढ़ाए जाने वाले पाठ के लिए कक्षा के कुछ विद्यार्थियों को चुनना, उन्हें पाठ से सम्बन्धित संवाद लिखकर देना, संवादों को याद कर कक्षा के बाक़ी विद्यार्थियों के सामने प्रस्तुत कर देना किसी भी सूरत में 'थिएटर एन एजुकेशन' नहीं है।

यह तो बहुत आसानी से बता दिया कि 'थिएटर इन एजुकेशन' नाटक करना भर नहीं है। आगे बढ़ने से पहले मैं यह भी स्पष्ट करने की कोशिश करती हूँ कि 'थिएटर इन एजुकेशन' से मेरा क्या मन्तव्य है।

'थिएटर इन एजुकेशन' वह प्रक्रिया है जिसके ज़रिए हम स्वयं को समझते हैं, दूसरों के व्यवहारों को समझने की कोशिश करते हैं। स्कूल व अन्य सामाजिक संरचनाओं में ख़ुद को रखकर देखते हैं। इसके अन्तर्गत आयोजित मननशील आलोचनात्मक चर्चाएँ सुनने की क्षमता व विचार ग्राह्यता के संवर्द्धन में मदद करती हैं।

यह सीखने के सहभागी तरीक़ों को आधार देता है और दूसरों के साथ मिलकर जानकारियों को हासिल करने, उनका आदान-प्रदान करने, विश्लेषण करने, अपने आसपास घट रही घटनाओं का अवलोकन करने और समीक्षा करने की समझ पैदा करता है। सामाजिक प्रश्नों को समझते हुए समूहजनित संवेदनशीलता का विकास इसके उद्देश्यों में निहित है। शिक्षा में सृजनशीलता के महत्त्व को पोषित करता हुआ यह विभिन्न चिन्तन प्रक्रियाओं के बीच सम्बन्धों को खोजने की क्रिया से संलग्न करता है।

क्या किसी घटना / कहानी / कविता का नाट्य रूपान्तरण कर कक्षा में प्रस्तुत कर देने से यह सब हासिल हो सकता है?

तो फिर कैसे सम्भावनाएँ पैदा हो सकती हैं, एक अनुभव साझा करती हूँ। यह अनुभव उत्तर पश्चिमी दिल्ली के सर्वोदय विद्यालय की कक्षा 5 का है–

विषय : हिन्दी, उपविषय : 'बस की सैर', कक्षा में उपस्थित विद्यार्थी : 47 (सभी छात्राएँ हैं क्योंकि यह सुबह की पाली का कन्या विद्यालय है)।

समय : 40 + 40 = 80 मिनट

'इस विद्यालय में इस तरह की समय सीमा का निर्धारण ज़रूरी नहीं हैं' क्योंकि नर्सरी से पाँचवीं कक्षा तक कक्षानुसार एक ही अध्यापक कक्षा में रहते हैं। उपस्थिति, मिड डे मील, खेलकूद एवं पाठ्यचर्यक विषयों का शिक्षण एक ही अध्यापक के हाथ में रहता है।

'बस की सैर' पाठ के शिक्षण को दो दिनों में बाँटा गया।

प्रथम दिवस

सबसे पहले विद्यार्थियों को 'बस की सैर' के रचनाकार के बारे में बताया। यह भी बताया कि यह एक अनूदित रचना है। यद्यपि इस समय मैंने

अपेक्षा नहीं की थी कि कोई भी विद्यार्थी रचनाकार और अनूदित रचना को लेकर प्रश्न करेगी, पर ऐसा हुआ। एक विद्यार्थी का प्रश्न था– 'अनूदित' से क्या मतलब होता है? मैंने उन्हें संकेत दिया कि उनकी हिन्दी की पाठ्यपुस्तक में एक ऐसी कहानी है जो उनकी अँग्रेज़ी की पाठ्यपुस्तक में भी है। तुरन्त तो नहीं, पर कुछेक पलों के बाद वे याद कर पाए कि हाँ, हाँ, उन्होंने एक नहीं दो-दो कहानियाँ हिन्दी में भी पढ़ी हैं और अँग्रेज़ी में भी। तीन विद्यार्थियों ने बताया कि उन्होंने विक्रम बेताल के कुछ किस्से हिन्दी व अँग्रेज़ी दोनों में पढ़े हैं। एक विद्यार्थी ने बताया कि टीवी पर जो विज्ञापन और सीरियल हिन्दी में देखते हैं, उसने वही चीज़ एक दूसरे चैनल पर भोजपुरी में देखी बिलकुल सेम टू सेम। विद्यार्थियों की इस जानकारी के आधार पर उन्हें अनुवाद व अनूदित रचना की अवधारणा से परिचित करवाया गया।

अब मैं कहानी पर आ ही रही थी कि एक और प्रश्न आ गया, मैडम, मैंने तो सुना है कि हिन्दी में हज़ारों-लाखों कहानियाँ लिखी गई हैं। फिर दूसरी भाषा की कहानी का अनुवाद करके हमारी हिन्दी की बुक में डालना, ऐसी क्या ज़रूरत थी?

पाँचवीं कक्षा की विद्यार्थी से इस तरह के प्रश्न की मुझे कतई उम्मीद नहीं थी। इस बात की मुझे सही जानकारी थी कि पाठ्यपुस्तकों में अनूदित रचनाएँ क्यों देनी चाहिए, पर मुझे यह आशंका थी कि जिस आसानी से प्रश्न पूछा गया क्या उसी आसानी व सहजता से मैं उत्तर भी दे पाऊँगी? दूसरी बात समय की भी थी, 20-22 मिनट तो अभी ही हो चले थे।

ख़ैर, मैंने समय नियोजन की चिन्ता को परे धकेला क्योंकि वह तो मेरे हाथ में था ही, मैंने उन्हीं से प्रश्न किया।

आप लोग सोचिए न, बताइए तमिल में लिखी यह कहानी आपकी पुस्तक में क्यों रखी गई होगी?

कुछेक विद्यार्थी मुस्कराईं। शायद सोच रही होंगी कि मैं स्वयं उत्तर खोजने का वक़्त चाहती हूँ। पर अधिकांश मेरी इस शैली से परिचित थीं कि मैंने उनके सामने कभी भी तैयारशुदा उत्तर नहीं परोसे, चाहे विद्यार्थी माथापच्ची करने में कितना भी समय क्यों न लगाएँ।

पहले हौली-हौली सी खुसर-पुसर हुई फिर चिन्तन की प्रक्रिया कुछ मुखर-सी हुई और एक आवाज़ आई–

मैडम, जिन्होंने ये किताब बनाई है, हो सकता है कि 'बस की सैर' लिखने वाली इनकी रिश्तेदार हो और...

इस विद्यार्थी की बात बीच में ही काटकर उसी की मित्र बोली– नो, नो, एकदम नो। मैंने अपनी किताब के पहले पन्ने पढ़े हैं जहाँ किताब बनाने वालों के नाम लिखे होते हैं। उसमें एक भी नाम साउथ इंडियन नहीं है तो रिश्तेदारी की बात तो हो गई कण्डम। कुछ और सोच।

तीसरी विद्यार्थी ने हस्तक्षेप किया– रिश्तेदार नहीं, दोस्त या जान-पहचान वाली तो हो ही सकती है।

चौथी विद्यार्थी– मैं बताऊँ। मेरा आइडिया तो ये है कि हम सारे लोग न तो मद्रास जा सकते हैं, न मद्रासी पढ़ सकते हैं और हमारी कक्षा में

भी तो ये मद्रासी लड़कियाँ पढ़ती हैं चार-पाँच, तो बस इसलिए किताब बनाने वालों ने सोचा होगा कि चलो इन्हें मद्रास की सैर करवा दो।

चर्चा कहीं अलग रास्ते पर न चल पड़े, इस डर से मैंने यह पूछना ठीक नहीं समझा कि उस बच्ची ने 'मद्रास' शब्द कहाँ से सुना है क्योंकि मैं स्वयं 'चेन्नै' नाम सुनकर बड़ी हुई हूँ और यह तो अभी बहुत छोटी है।'

एक और विद्यार्थी की टिप्पणी थी कि कहानी हिन्दी की हो या बंगाली या तमिल, कहानी तो कहानी है। है तो अपने देश की। हमने तो सुना है कि रूस की कहानी भी हिन्दी में छपती है। अब मैं इन अटकलों को एक आकार देना चाह रही थी और सोच रही थी कि सही बात को सरल से सरलतम रूप में कैसे पेश किया जा सकता है।

बहुत ही आत्मविश्वास के साथ मैं उन्हें बता पाई कि ग़ैर-हिन्दी रचनाओं का अनुवाद कर हिन्दी की पाठ्यपुस्तक में रखने का क्या प्रयोजन हो सकता है।

अब तक हम इस घण्टी की समय सीमा के बिलकुल क़रीब पहुँच गए थे। अगली घण्टी का भी समय हिन्दी के लिए ले सकते हैं क्या, बच्चों की सहमति के साथ मैं आगे बढ़ी।

मैंने हर प्रकार से यह सुनिश्चित कर लिया कि सभी विद्यार्थियों का ध्यान हर तरह की चर्चा से हटकर आज के पाठ 'बस की सैर' पर आ टिका है तो मैंने पाठ पढ़ना शुरू किया– "नाम तो उसका था वल्लिमां, पर उसको सब वल्ली ही कहते थे। उम्र उसकी केवल आठ वर्ष ही थी। उसके मन में सदा ही हर बात को जानने और समझने की इच्छा रहती थी। खेलकूद में उसका कोई साथी नहीं था। वह आमतौर से अकेली ही थी। काम उसे कुछ था नहीं। इसलिए दिनभर वह घर की दहलीज़ पर खड़ी रहती और देखती रहती कि सड़क पर क्या हो रहा है, कौन आ रहा है, कौन जा रहा है, आदि आदि"।

मैंने देखा कि सभी विद्यार्थी एकाग्रचित्त होकर सुन-पढ़ रही थीं। इस अनुच्छेद के ख़त्म होने पर मैंने विद्यार्थियों से पूछा कि वल्ली अपने घर के सामने वाली सड़क पर हो रही हलचलों को देखती रहती थी। क्या हम यहाँ कक्षा में वल्ली के घर के सामने वाली सड़क का दृश्य सृजित कर सकते हैं?

मैंने कक्षा में सबसे पीछे वाली डेस्कों पर बैठी छह विद्यार्थियों को आगे बुलाया और सड़क का दृश्य सृजित करने के लिए कहा।

नोट : मैं यह भी कह सकती थी कि कोई भी छह विद्यार्थी आगे आ जाएँ। 'कोई भी' कहने से सभी विद्यार्थियों की सहभागिता सम्भव नहीं हो पाती। कुछेक विद्यार्थी ही बारम्बार आगे आती हैं।

पीछे के डेस्क वाली विद्यार्थी आगे आईं। उन्होंने आपस में सलाह मशविरा किया और उनमें से एक विद्यार्थी के 'शुरू' कहने पर दृश्य आरम्भ हुआ–

- मैं ख़रबूज्ज़े वाला! मीठे-मीठे ख़रबूज़े लो। ख़रबूज्ज़े लो।
- कबाड़ी वाला! कबाड़ी वाला! रद्दी बेचो। फटे-पुराने कपड़े बेचो।
- सिर पर मटकी रखने का अभिनय करते हुए दूसरी विद्यार्थी जो बाल्टी पकड़ने का अभिनय कर रही थी– चल सखी जल्दी चल। आज तो मेरे घर रिश्तेदार आए हैं। उनका भी खाना बनाना है। जल्दी-जल्दी चलने का अभिनय किया जाता है।
- दो विद्यार्थी झाड़ू लगाते हुए– अजीब क़िस्म के लोग हैं ये। सारा कचरा ऐसे ही बिखेर देते हैं। कह रखा है कि सूखा कचरा और गीला कचरा अलग-अलग फेंको पर नहीं। तमीज़ तो जैसे सीखी ही नहीं!

मूर्ति...'स्टेचू' मेरे ऐसा कहते ही सभी अपने-अपने स्थान पर अपनी मुद्रा के साथ जड़वत हो गए।

मैंने शेष कक्षा से इस दृश्य पर अपने विचार देने के लिए कहा। उनकी टिप्पणियाँ इस प्रकार रहीं–

- ये 'ख़रबूज़े वाला' कह रही थी। ख़रबूज्ज़े वाली भी तो हो सकती है। औरतें भी ठेले-ठूले लेकर काम पर जा रही हैं। क्या ज़रूरी है कि लड़के का ही अभिनय करें?
- मैडम, मैं सोच रही थी कि कहानी तो तमिलनाडु की है। वहाँ तो समन्दर ही समन्दर है। वहाँ ख़रबूज़े मिलते होंगे क्या?
- हाँ, मैं भी कुछ यही सोच रही थी।
- ऐसे तो मटकी वाले सीन में भी गड़बड़ है। ये सीन तो राजस्थान का हो सकता है। ये ख़ुद अलवर की है न। इसलिए शायद इसने वहाँ का ही सीन बना दिया वल्ली की सड़क पर।
- जिस तरह से सीन बना उससे टाइम का अन्दाज़ा नहीं लग पा रहा। झाड़ू लगाने मनुस्पैलटी वाली सुबह छह बजे आ लेती हैं। सब्ज़ी वाले ठेले कोई 10 बजे के बाद आते हैं और रद्दी वाला तो ग्यारह बजे से पहले आता ही नहीं।

इस विद्यार्थी की टिप्पणी पर इधर-उधर से आवाज़ें आईं– ये वल्ली की सड़क है, तुम्हारा मुहल्ला नहीं। लगभग पूरी कक्षा को यह आपत्ति थी कि कहानी दिल्ली या राजस्थान की नहीं है तो यहाँ का दृश्य क्यों?

मैंने कहा– चलिए मान लेते हैं कि हमारे आसपास की ही कहानी है तो क्या वल्ली यही सब देखती होगी? इस सवाल पर उत्तर मिले–

- एक-दो पशु जैसे कुत्ता आदि ज़रूर होने चाहिए थे। अगर छोटे लोगों की कालोनी है तो कुत्ते, गाय, बैल तो घूमते मिल ही जाएँगे।
- एक-दो राहगीर भी हो सकते हैं इस सड़क पर।
- कोई छोटा-मोटा वाहन जैसे– रिक्शा, साइकिल, टैम्पू भी गुज़र सकता है। ये सब होगा तभी तो वल्ली को मज़ा आएगा। नहीं तो क्या देखेगी वह पूरे दिन।
- बच्चों की रैली भी गुज़ार सकते हैं यहाँ इस सड़क पर। स्वच्छता अभियान की रैली।

इस टिप्पणी पर तुरन्त प्रतिक्रिया हुई। रैली नहीं। क्योंकि रैली में तो वल्ली ख़ुद शामिल होती न।

- मैं होती तो दो पड़ोसियों का झगड़ा ज़रूर दिखाती। हमारी गली में तो ये रोज़ की बात है।

इन टिप्पणियों के बाद गली का दृश्य उपस्थित कर रही विद्यार्थियों से पूछा गया कि उन्होंने यही दृश्य क्यों प्रस्तुत किए?

उनके उत्तर इस प्रकार थे–

- मैम आप जब कहानी पढ़ रही थीं, आपके पढ़ने के साथ-साथ वल्ली मुझमें उतर आई थी, मुझे लगा वल्ली मेरी ही गली में खड़ी है। बस मैंने तो अपनी गली का दृश्य ही सामने रखा। मेरी कल्पना में तमिलनाडु की गली तो आ ही नहीं सकती। मैंने न तो वहाँ की फ़िल्म कभी देखी। बस इतना पता है कि वहाँ समुद्र होता है, ढेर सारे मन्दिर होते हैं।
- मुझे अपने स्कूल के बाहर की सड़क का भान हो रहा था। शेष विद्यार्थियों के भी यही उत्तर थे कि उन्हें लग रहा था कि उनके घर के बाहर वाली सड़क ही होगी।

साथियों, 'बस की सैर' के पहले अनुच्छेद के बाद की गई इस गतिविधि को 'थिएटर इन

एजुकेशन' की भाषा में 'थॉट ट्रैकिंग' की संज्ञा दी गई है जो साहित्य पठन की 'रीडर रिस्पॉन्स थ्योरी' से प्रभावित है।

यह गतिविधि विद्यार्थियों यानी कि 'पाठकों' को बाध्य नहीं करती कि वे रचनाकार के विचारों के साथ एकाकार हो जाएँ।

आमतौर पर हमारी कक्षाओं में कविता / कहानी या और भी किसी तरह की पठन सामग्री पढ़ाते समय अध्यापक कहते हैं–

"यहाँ पर लेखक कहता है कि ....।"

जैसे ही अध्यापक इस तरह की बात कहते हैं तो समझ में यही आता है कि कक्षा में पाठक का अपना कोई वजूद 'स्पेस' नहीं है। हमें वही मानना है, वही सोचना है जो लेखक कह रहा / रही है। अध्यापक के इस वाक्य से यह भी अर्थ निकलता है कि हरेक पाठ एक निश्चित अर्थ लिए हुए होता है, जो लेखक ने तय कर दिया है। पाठक उसके आगे-पीछे नहीं जा सकते। ठीक इसके विपरीत 'थिएटर इन एजुकेशन' की 'थॉट ट्रैकिंग' गतिविधि यह बताने की कोशिश कर रही है कि हर पाठक अपने-आप में अद्वितीय है। किसी भी सामग्री को पढ़ते समय पाठक उस सामग्री में ख़ुद को उतार लेते हैं। हरेक पाठ का एक ही अर्थ निकलेगा, यह ज़रूरी नहीं है। किसी पंक्ति की कोई एक निश्चित व्याख्या हो, यह असम्भव है (माननीय न्यायालयों के निर्णयों को यहाँ छोड़ दिया जाए)। यह गतिविधि इस बात को भी पुष्ट करती है कि पाठक अर्थ ढूँढ़ने की कोशिश कर रहे हैं, न कि सामग्री अपने-आप कोई अर्थ दे रही है।

'थॉट ट्रैकिंग' के बाद की गतिविधि का नाम है 'रोल इन रोल'। 'थिएटर इन एजुकेशन' से जुड़े कुछ साथी इस गतिविधि को 'बुश' भी कहते हैं। 'बुश' नाम जादूगरी के खेल से लिया गया है। जादूगरों को जब भी किसी चीज़ को ग़ायब करना होता है तो छड़ी घुमाते हैं और कहते हैं 'बुश'। यहाँ पर 'बुश' का सन्दर्भ इसलिए लिया गया है कि यदि अध्यापक को पाठ में आए किसी चरित्र / पात्र को किसी भी पाठक की नज़र से जानना है तो वह उस विद्यार्थी के सिर पर हाथ रखकर कहेगी / कहेगा 'बुश'। यानी अब आप 'आप' नहीं हैं और उस पात्र की तरह बोलेंगे।

इस गतिविधि के क्रियान्वयन हेतु विद्यार्थियों को निर्देश दिए गए कि अब जिसके सिर पर हाथ रखूँगी वह वल्ली की भूमिका में आ जाएगी और वल्ली सड़क पर खड़ी क्या देखती है, क्या सोचती है, क्या कुछ कहना चाहती है इसपर बात करेगी।

'रोल इन रोल' से प्राप्त प्रतिक्रियाएँ–

- पहली विद्यार्थी (बहुत ही अचकचाते हुए)

मैडम मैं अपने-आप को बल्ली के रूप में ला ही नहीं पा रही। मैं तो तब से यह सवाल कुँधियाए जा रही थी कि वल्ली ऐसा कर भी कैसे सकती है? हमारे घर में तो घर से स्कूल, फिर स्कूल से घर सीधे। इधर-उधर देखने का तो मतलब ही नहीं।

- दूसरी विद्यार्थी (और भी अधिक हिचकिचाते हुए)

मैडम, मैं ख़ुद नहीं सोच पा रही ख़ुद को वल्ली जैसा। वल्ली घर की सड़क पर पूरा दिन रह भी कैसे सकती है, आख़िर हमारी तरह लड़की ही तो है। उसकी दद्दी, अम्मा ने इजाज़त कैसे दे दी?

इन दो लड़कियों के उत्तरों ने मानो कक्षा की दूसरी लड़कियों को भी ज़ुबान दे दी। मात्र तीन लड़कियों को छोड़कर शेष के स्वर थे– वे सपने में भी नहीं सोच सकतीं कि उन्हें उनके माँ-पिता कभी ऐसी आज़ादी देंगे। वे अगर बाहर सड़क पर खड़े भी हो लेंगी तो अड़ोसी-पड़ोसी उनके कान पकड़कर घर पहुँचा देंगे।

किसी-किसी ने तो यह भी कहा कि हमारे यहाँ का तो माहौल ही ख़राब है। हम तो ख़ुद ही

न निकलें घर से बाहर। जिन तीन विद्यार्थियों ने इस विषय पर चुप्पी साधी हुई थी, उनसे पूछा तो एक विद्यार्थी ने अपनी प्रतिक्रिया दी–

(पर यह वल्ली की भूमिका में उतरकर कही गई बात न थी) मैं और बड़की यानी कि मेरी बड़ी बहन, और पास की झुग्गी वाली भौजी हम तीनों मिलकर अपने ओसारे में चौकी लेकर बैठ जाते हैं। पूरी गली दिखती है वहाँ से हमें। हम ख़ूब मज़े लेते हैं। हमें तो लगता है कि कोई फ़िल्म चल रही है। मुझे तो कोई दिन-रात खड़े होने का मौक़ा दे तो भी मैं बोर नहीं होऊँगी।

दूसरी विद्यार्थी– मैं भी इसी गली की हूँ, कोई सात घर छोड़कर। मैं तो कभी कूड़ा डालने के बहाने तो कभी बुहारने के बहाने बाहर के सौ चक्कर तो लगा डालती हूँ। ऐसा क्यों करती हूँ कभी सोचा नहीं। पर बाहर देखे बग़ैर जमता नहीं है कुछ।

टीवी पर कितनी अच्छी फ़िल्म आ रही हो पर गली को देखना बहुत मज़ेदार है।

तीसरी विद्यार्थी– मेरा तो क़िस्सा ही अलग है। हम तो गली में होने वाली हलचलों से टाइम का अन्दाज़ा लगाते हैं। जगतराज की दूकान का खुलना, मिश्राइन आण्टी की धोती सूखने डलना, सबका फिक्स्ड टाइम है। हमारी अम्मा तो गली में बढ़ती घटती धूप से जान लेती हैं कि कितना बज गया है।

समय सीमा को ध्यान में रखते हुए पाठ यहीं पर छोड़ दिया गया। हम सबने अपनी कक्षा इस प्रश्न के साथ छोड़ी कि हम लड़कियों को गली या सड़क पर खड़े होकर / बैठकर कुछ भी देखने में क्या आड़े आता है और क्यों आता है?

मेरे कुछ साथी अध्यापक शिक्षकों ने मेरी इस तरह की कक्षाओं का अवलोकन किया है। उन्होंने पाया कि इस तरह की कक्षा की सबसे बड़ी उपलब्धि यह है कि अध्यापक की मेज़ के पास बैठे विद्यार्थियों से लेकर सबसे पिछली पंक्ति तक के विद्यार्थी पठन प्रक्रिया से जुड़े रहते हैं। दूसरी उपलब्धि यह कि कभी न बोलने वाली विद्यार्थियों के भी बिना किसी संकोच के विचार सुनाई देते हैं और तीसरी उपलब्धि यह कि पाठ से उपज रहे जिन बिन्दुओं को वे स्वयं नहीं पकड़ पाते, ये विद्यार्थी उन तक भी पहुँच जाते हैं।

एक अध्यापक शिक्षक ने बताया कि उसने यही पाठ दूसरे अनुभाग में अभी हाल में ही पढ़ाया है। उस कक्षा में प्रश्न किया गया कि वल्ली सड़क पर खड़े-खड़े क्या देखती, सोचती रहती होगी?

इसके उत्तर में विद्यार्थियों से बड़े सतही से उत्तर मिले कि लोगों का आना-जाना, वाहनों का आना-जाना आदि।

वल्ली यह सोचती होगी कि काश वह भी उनकी जगह होती तो उसकी तरह घूमती-फिरती और मज़े लेती! उस अध्यापिका ने बताया कि जिस तरह के विमर्श के बिन्दु यहाँ उभरे हैं वैसा सीधा-सपाट पढ़ाने से नहीं हो पाता। मेरे इन साथियों ने जहाँ एक ओर प्रशंसा की तो

दूसरी ओर कुछ आशंकाओं और चुनौतियों की तरफ़ भी संकेत किया, जैसे–

- कहानी का मज़ा तो मौन पठन में है, एक-एक अनुच्छेद पढ़ने, उसपर विचार करने से, उससे जुड़ी गतिविधि करने से तो कहानी का सारा मज़ा ही ख़त्म हो जाएगा।
- विद्यार्थियों के उच्चारण का तो पता लग ही नहीं पाएगा क्योंकि उनसे तो पढ़वाया ही नहीं जा रहा है।
- समय प्रबन्धन की चुनौती को कैसे हल किया जाएगा।

यदि हमारे पाठक मित्रों की भी ऐसी प्रतिक्रियाएँ हैं तो मैं कुछ इस प्रकार से अपनी बात रखना चाहूँगी।

पाठ्यपुस्तक में मौजूद हर रचना एक ही तरह से पढ़ाई जाएगी, ऐसा ज़रूरी नहीं है। कुछ कहानियों का मज़ा निश्चित रूप से मौन पठन में ही है।

यह हमारे विवेक पर निर्भर करता है कि हम किस रचना को 'थिएटर इन एजुकेशन' के साथ कक्षा में ले सकते हैं। जहाँ तक विद्यार्थियों के उच्चारण को जानने और समझने की बात है तो क्या हिन्दी की घण्टी में कहानी / कविता को पढ़वाकर ही उच्चारण जाना समझा जा सकता है?

इस सवाल से पहले तो एक और अहम सवाल है कि हम विद्यार्थियों की उच्चारण शैली जानना क्यों चाहते हैं, अगर हमारी मंशा यह है कि कक्षा में बोलकर पाठ पढ़वाने से हम अध्यापक उनका उच्चारण ठीक करेंगे तो यह कार्य किसी भी दृष्टि से उचित नहीं होगा क्योंकि हम सब जानते हैं कि हमारे बोलने के तौर-तरीक़ों पर स्थानीय प्रभाव काबिज़ रहता है। ऐसे में प्राथमिक स्तर पर जहाँ भाषा शिक्षण का उद्देश्य विद्यार्थियों को सशक्त अभिव्यक्ति के अवसर प्रदान करना है, वहाँ उच्चारण ठीक करवाने की क़वायदें उनकी भाषाई क्षमता को समुन्नत करने की जगह कुन्द ही करेंगी।

कक्षा ही नहीं, समूचे विद्यालय परिसर में विद्यार्थियों के साथ संवाद करने के अनेक मौक़े सुलभ होते हैं। ये वे मौक़े होते हैं जिनसे हमें विद्यार्थियों के सांस्कृतिक-सामाजिक सन्दर्भों, उनकी भाषिक क्षमता 'सम्पदा, भाषा शैली', उनकी आकांक्षाओं-अपेक्षाओं का पता चलता है। उच्चारण के सवाल पर मैं यही कहना चाहूँगी।

समय प्रबन्धन के विषय में मेरा उत्तर यह है कि हम स्वयं से सवाल करें कि भाषा के अध्यापक के नाते हमारा मक़सद पाठ का निपटारा करना है या पाठ के ज़रिए विद्यार्थियों को बोलने-कहने-सुनने, तर्क करने, पाठ से उपजे विमर्श के मुद्दों पर चर्चा करने के अवसर सुलभ कराना है? मैंने ये देखा है कि कुछ पाठों पर इस तरह से चर्चा करके विद्यार्थियों में अगले पाठ के लिए जिज्ञासा पैदा हुई। इससे सवालों को हल करने में समय कम लगता पाया गया है। आप कृपया इसे अतिशयोक्ति न समझें, 'थिएटर इन एजुकेशन' के समावेशन ने पढ़ने में अरुचि रखने वाली विद्यार्थियों में पढ़ने के प्रति उतावलापन व ललक पैदा की है। जल्दी-जल्दी उबाऊ भरी घण्टियों को निपटाने की जगह मज़ेदार तरीक़े से पाठ को कक्षा में परोसना, यदि दोनों में अन्तर समझ आ जाए तो समय प्रबन्धन के मसले का हल अपने-आप ही मिल जाता है।

सभी चित्र : पुस्तक *बस की सैर*, नेशनल बुक ट्रस्ट, इंडिया से साभार।

सुरभि चावला ग्रेट मिशन टीचर ट्रेनिंग इंस्टीट्यूट, द्वारका, नई दिल्ली में शिक्षक प्रशिक्षक हैं। आपने वार्विक यूनिवर्सिटी, यूके से इंटरनैशनल परफ़ोर्मेंस रिसर्च में और आंबेडकर विश्वविद्यालय, दिल्ली से ईसीसीई में स्नातकोत्तर किया है। आप नैशनल स्कूल ऑफ़ ड्रामा द्वारा आयोजित थिएटर इन एजुकेशन की कई कार्यशालाओं में फ़ेसिलिटेटर रही हैं। आपने कई संगठनों और शिक्षक-प्रशिक्षण संस्थाओं में थिएटर से जुड़ी कार्यशालाएँ आयोजित की हैं और सत्र संचालित किए हैं।

सम्पर्क : chawla.surabhi08@gmail.com

लिखना सीखना : मुश्किल सफ़र के सुगम रास्ते

मदन मोहन पाण्डेय
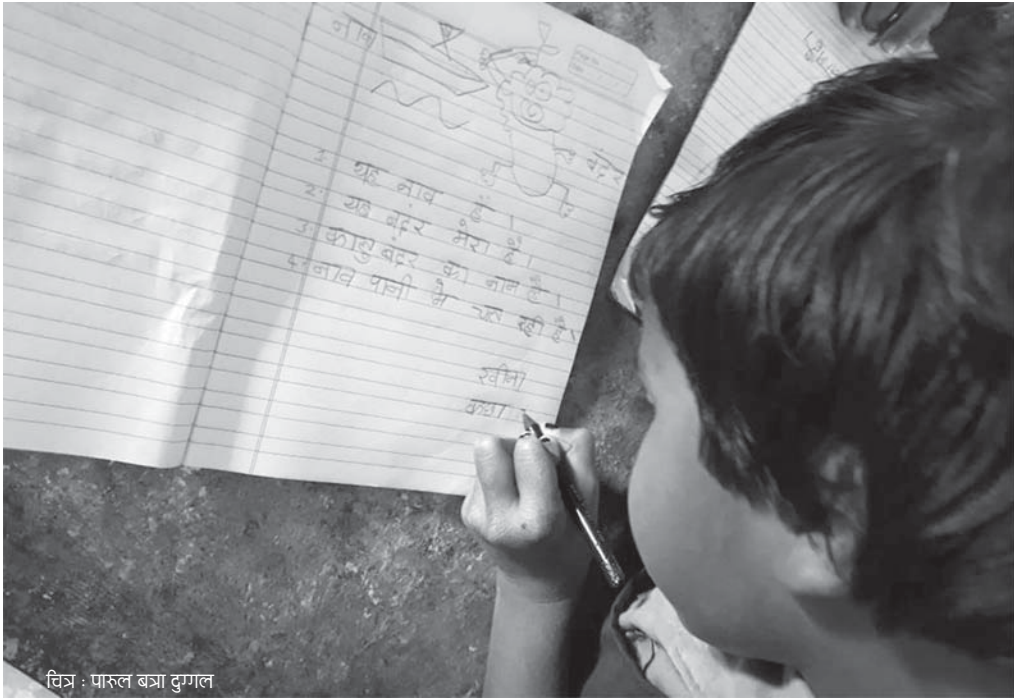
चित्र : पारुल बत्रा दुग्गल

सुनना-बोलना तो बच्चे घर से सीखकर आते ही हैं। यानी बच्चे जब स्कूल आते हैं तब उनके पास एक भाषाई पृष्ठभूमि होती है। पढ़ना-लिखना सिखाने का व्यवस्थित काम बच्चों के लिए स्कूल शुरू करता है। इन्हीं दो कामों में घर और स्कूल को ज़्यादा चुनौतियाँ पेश आती हैं। पढ़ने में कम और लिखने में ज़्यादा। यह लेख भाषा के कौशल 'लिखना', उसे सीखने की मुश्किलों, उनके कारणों और मुश्किलें कम करने हेतु कुछ सलाहों पर केन्द्रित है। इसमें यह स्पष्ट करने की कोशिश है कि लिखना बच्चों के लिए उतना कठिन है नहीं जितना इसे सिखाने के रूढ़ नज़रियों और तरीक़ों (जिसमें पढ़ना भी शामिल है) के कारण यह बन जाता है। नज़रिये का मामला भाषा की प्रकृति से, सामाजिक रूप से भाषा के निर्माण, उपयोग और व्यवहार से जुड़ा है। नज़रिये में यह बात भी शामिल है कि हम बच्चों के लिखना सीखने को देखते कैसे हैं। और तरीक़े वे हैं जिन्हें हम लम्बे समय से लिखना सिखाने के लिए प्रयोग कर रहे हैं, पर जिन्हें हमने कभी आलोचना की नज़र से नहीं देखा। ये दोनों मुद्दे जुड़े हुए हैं और दोनों ही रूढ़ हैं जो लिखना सीखने के लिए मुश्किलें पैदा करते हैं। यहाँ हम पहले मुश्किलों और फिर उन्हें कम करने के तरीक़ों को समझने की कोशिश करेंगे। तो पहले मुश्किलें...

भाषा की प्रकृति की अनदेखी

शिक्षक के रूप में यदि भाषा की प्रकृति की विशेषताओं से हमारा 'परिचय' नहीं है तो लिखना सिखाने के बँधे-बँधाए ढर्रे से हमारा बाहर निकलना और बच्चों को इसे सिखाना कठिन होगा। शिक्षक-प्रशिक्षणों में अकसर इसे छोड़ दिया जाता है। पर इसपर विमर्श आवश्यक है। भाषा हमारे समाज की एक जीवन्त, समग्र (अर्थवान), परिवर्तनशील, गतिशील सम्पदा है। यह मूलतः और मुख्यतः मौखिक रूप से व्यवहार में लाई जाती है। सभी भाषाओं का एक वैश्विक व्याकरण है। भाषाएँ प्राणियों, स्थानों, वस्तुओं के नामों, सर्वनामों, क्रियासूचक, भावसूचक, समयसूचक शब्दों और अव्ययों का विराट संग्रह हैं। भाषाएँ मनुष्य की स्मृति का बड़ा हिस्सा हैं।

बड़े और बच्चे इसी से अपनी भाषा बनाते हैं। किसी समाज ने अक्षर-अक्षर जोड़कर अपनी भाषा के शब्द नहीं बनाए। 'पेड़' इसलिए नहीं बना कि कहीं से 'पे' और 'ड़' अक्षर आ मिले, बल्कि यह एक वस्तु / अर्थ / छवि का समाज द्वारा किया गया नामकरण है जिसे सुन-पढ़ कर हमारे मन में तने, डालियों, फूलों-फलों से सज्जित एक आकार की छवि उभरती है। भाषाओं के अधिकांश शब्द इसी प्रकार हमारे संसार में मौजूद चीज़ों के नामकरण हैं। भाषाओं के बीच शब्दों का लेन-देन होता है। पुराने शब्द मनुष्य के साथ यात्रा करते हुए घिसते-मुड़ते हुए दूसरी भाषा का हिस्सा बन जाते हैं (जैसे– ईरान का 'शाह अब्बास' भारत आते-आते हिन्दी में 'शाबाश' बन गया)।

नाई अनाम- अनुष्का सिंह। 5th

जब हम नाई के पास बाल कटवाने के लिए जाते है तो हमे वो एक गले मे कपड़ा लगाते है औ हम सोचते है की हमारे बाल कैसे कटेंगे और हम रोने लग जाते है और जब हमारे बाल कट जाते है तो हमे वो पावडर से बाल निकालते है

भाषा का स्टाइल / शैलियाँ बनती-बदलती रहती हैं। जैसे– अख़बारों के विकास के साथ समाचार-लेखन की एक शैली विकसित हुई। कविता, कहानी, शब्द-चित्र, पहेलियाँ, लोकोक्तियाँ वग़ैरह भाषा के ललित / सौन्दर्यबोधक रूप हैं। भाषा की इन ख़ूबियों की समझ या स्वीकार्यता न होना पढ़ना-लिखना दोनों के शिक्षण को यांत्रिक बना सकता है।

लिखने की मानसिक प्रक्रिया की उपेक्षा

जब हमारा ध्यान लिखना सीखने की मानसिक प्रक्रिया की ओर नहीं जाता तब भी इसे सिखाना कठिन हो जाता है। बाहरी दुनिया का अवलोकन करते हुए, सार्थक ध्वनि सन्दर्भों को सुनते, छपे शब्दों और वाक्यों को पढ़ते हुए बच्चे / हम उनसे अर्थ ग्रहण करते हैं। विभिन्न अर्थों से जूझता हुआ दिमाग़ उनके बीच सम्बन्ध जोड़ने और उस समूचे सन्दर्भ का सार / सन्देश ग्रहण करने की कोशिश करता है। यही 'समझ' है और इसी को उद्देश्य के अनुसार, अपने हिसाब से चित्रित किया, बोला या लिखा जाता है।

छः साल का एक बच्चा कहानी सुनाने के बाद यह पूछने पर कि बताओ यह कहानी किस चीज़ पर है? अपनी समझ से यह बता देता है, चाहे हम उसे कहानी का शीर्षक पहले से न बताएँ। यह उसके लिए कहानी का 'सार' है। आगे प्रश्न करें तो बच्चे अपने इस 'सार' को खोलते भी हैं। लिखते हुए बच्चे / हम ख़ास आकृतियों में अपनी ओर से कही जाने वाली 'बात' ही गढ़ते हैं। इसमें सोचना, 'स्क्रिप्ट' से बार-बार अपनी कल्पना में जाना और कल्पना से 'स्क्रिप्ट' में वापस आना शामिल है। इस प्रक्रिया में हम मन में मौजूद सन्दर्भ और भाषा-उपयोग के उद्देश्य के अनुसार
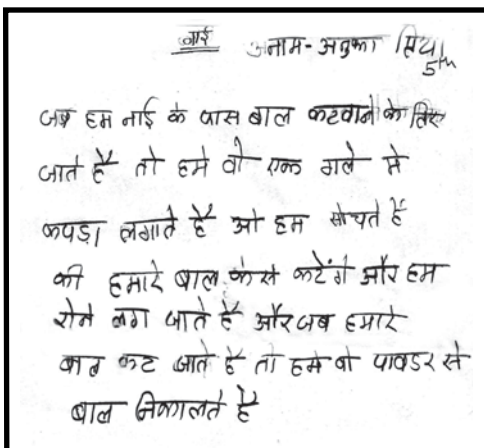
अपनी इबारत को 'एडिट' भी करते चलते हैं। कक्षा के साथियों से उसपर बातचीत और कोई शब्द न आए तो कभी-कभार दोस्त की कॉपी में ताकझाँक भी इसी का हिस्सा है। इसे बहुधा 'अवैध नक़ल' मान लिया जाता है। पर यह हमेशा 'नक़ल' नहीं होती– कभी किसी शब्द की छवि याद न आने पर लिखना सीखने की निर्दोष इच्छा भी हो सकती है। किसी 'स्क्रिप्ट' को समझते हुए नक़ल करना, उससे संक्षिप्त / विस्तृत नोट्स बनाना भी लिखना है। किसी इबारत का मायने समझे बग़ैर नक़ल करना बेकार की क़वायद है। मन से सोचते-समझते हुए लिखना ही स्वाभाविक और रचनात्मक लेखन है।

खण्डित भाषा उपकरण, नीरस सन्दर्भ

खण्डित भाषा उपकरणों का अर्थ है अकेले और निरर्थक अक्षरों से पढ़ना-लिखना सीखने की क़वायद। लिखने के लिए यह ज़्यादा की जाती है। कई बार अक्षरों से मात्राओं को अलग करके इनके और भी सूक्ष्म टुकड़े बना लिए जाते हैं। इस तरह स्वर, व्यंजन, मात्राओं के क़रीब बहुत सारे संकेत बच्चों को याद करने पड़ जाते हैं। इस दिशा में प्रगति न हो तो कहा जाता है कि अभी बच्चे को अक्षर ज्ञान ही नहीं हुआ। आगे कैसे बढ़ें? कोई बताए 'अ', 'ण' या 'क्ष' में क्या ज्ञान छिपा है? सार्थक शब्दों और वाक्यों के साथ मन की दृश्यात्मक अवधारणाएँ जुड़ी होती हैं, जो लिखते हुए बच्चों को स्मृतियों-कल्पनाओं में ले जाती हैं। अक्षरों के साथ ऐसा नहीं हो पाता। यह न समझना, लिखना सीखने के मामले में नज़रिये से सम्बन्धित सबसे बड़ी कठिनाई है जो ज्ञान निर्माण की पूरी प्रक्रिया को प्रभावित करती है। 'अ से अनार' या 'आ से आम' वाला स्टाइल भी 'खण्डित भाषा उपकरण' ही है। यह वैसा ही है जैसा बच्चों से किसी कुर्सी का चित्र बनवाने के लिए पहले कुर्सी की चारों टाँगें तोड़ देना, उसकी पुश्त और गद्दी उखाड़कर पहले उनके अलग-अलग चित्र बनवाना, फिर इन टूटे अंगों को जोड़कर दुबारा कुर्सी बनाना और उसका चित्र बनाने को कहना।

जब मैं स्कुल मैं पहली बार आई
तो मुझे मेंम से बहुत डर लगता था?
और वह कें बच्चों और वह कि बड़ी-बड़ी
दीदीयों से भी डर लगता था?
फीर मेरी एक दोस्त बनी और उसका नाम
रिया है मेरी बोहोत अच्छी दोस्त है वो
अभी भी पढती है। My bast farandi riya

रिषिता जाधव
कक्षा 5
11/4/18
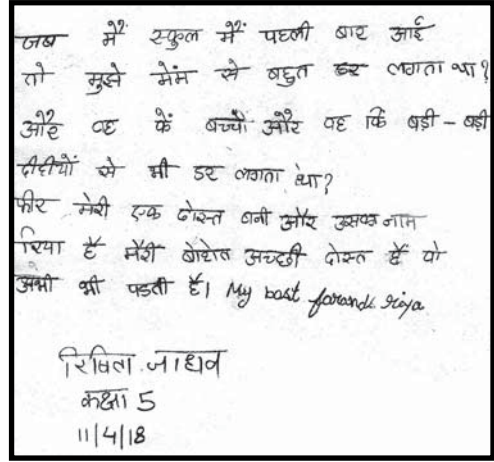
लिखना सीखने को चुनी गई 'स्क्रिप्ट' / सन्दर्भ / विषयवस्तु यदि बच्चों के मन को नहीं जोड़ पाती तो भी लिखना उनके लिए उबाऊ ही होगा। अनेक पाठ्यपुस्तकों में पढ़ना-लिखना सिखाने के लिए अमर आ, छाता ला या यह राम का तोता है, तोता आम खाता है। मोती का मोर नाच रहा है। गौरी आ, गौरी आ। मोर को दाना दे। तोते को रोटी दे क़िस्म के सन्दर्भ आज भी दिखते हैं। ये सार्थक सन्दर्भ तो हैं, बच्चों के परिवेशीय पात्र भी इनमें हैं, पर साफ़ लगता है कि उन्हें यहाँ 'आ', 'ए', 'ओ', 'औ', की मात्राएँ सिखाने के लिए जमा किया गया है। इसलिए ये सूचनात्मक और कृत्रिम लगते हैं और बच्चों के मन को नहीं जोड़ते। ऐसे सन्दर्भों की घटनाओं में कोई तार्किक संगति और विकास नज़र नहीं आता। एससीईआरटी में काम करने के दौरान मैंने पाया कि अनेक स्कूलों में लिखना सीखने के लिए पहली-दूसरी कक्षाओं के ब्लैकबोर्ड पर 40 से 60 तक वैचारिक रूप से परस्पर असम्बद्ध शब्द लिखे रहते थे। यद्यपि शिक्षकों ने मेहनत और अच्छे उद्देश्य से अनेक पाठों से चुनकर यह सूची बनाई होती थी। पर बिना चर्चा के नक़ल के लिए दिए ऐसे शब्द बच्चों के मन में कोई दृश्य नहीं रचते। इसीलिए वे लिखना सीखने में बच्चों में रुचि नहीं जगा पाते। अतः लिखना सिखाने के लिए प्रयुक्त विषयवस्तु का

चुनाव भी उतना ही महत्त्वपूर्ण लगता है जितना उसे सीखने की प्रक्रिया।

जल्दबाज़ी

कक्षा में लिखने पर काम करते हुए किसी दबाव में हम अकसर जल्दबाज़ी में फँस जाते हैं। यह स्थिति बच्चों को भी दबाव और कठिनाई में डाल देती है। उन्हें सहज गति से नहीं सीखने देती। ज़रा हम अपनी घर की मौखिक भाषा सीखने के समय को याद करें। यह क़रीब ढाई से तीन साल का होता है। लेकिन स्कूल में हम बच्चों से दो साल में ही पढ़ने-लिखने में सारी कुशलता पाने की उम्मीद पाल लेते हैं। जबकि उनमें से तमाम बच्चे पहली पीढ़ी के स्कूली विद्यार्थी होते हैं। इस मामले में हमारी स्कूल-प्रणाली को ज़्यादा उदार होना होगा। शुरुआती साक्षरता के लिए कम-से-कम तीन वर्ष ज़रूरी हैं।

चित्र : कालू राम शर्मा

लाइन, सुलेख और रबर-पेंसिल

कक्षा एक और दो में सीधी लाइन और सुलेख के दबाव के कारण काग़ज़ पर लगातार अक्षर लिखते-मिटाते बच्चों का दृश्य आम है। यह प्रवाहपूर्ण भाषा लिखना सीखने में रुकावट है। विकासनगर (देहरादून) के स्कूलों में 'पोटली लाइब्रेरी' कार्यक्रम के फ़ॉलोअप में स्कूलों में सुनकर कहानी लिखने की गतिविधि कराई गई। इसमें कक्षा दो-तीन से कक्षा पाँच तक के बच्चों को साथ बिठाकर कोई कहानी सुनाई जाती और फिर सुनी कहानी लिखने को कहा जाता। तब कुछ स्कूलों में बच्चों की यह प्रतिक्रिया हुई— ज्यों ही कहानी लिखने के लिए उन्हें सादे काग़ज़ मिलते उनके हाथों में स्केल, पेंसिलें और रबर आ जाते, वे सबसे पहले काग़ज़ पर रूल खींचने में जुट जाते। रूल टेढ़े हुए तो रबर से मिटाकर फिर सीधा खींचने की कोशिश करते। फिर होती एक-एक शब्द को सीधी क़तार में लिखने और एक-एक शब्द / अक्षर को सुघड़ / सुडौल बनाने की क़सरत। अक्षरों के अंग-प्रत्यंग दुरुस्त करने को बच्चे उन्हें बार-बार मिटाते और लिखते। जब तक वे अक्षर या शब्द की बनावट से सन्तुष्ट न होते, नया शब्द शुरू नहीं करते। बिना रूल के काग़ज़ हमने उन्हें जानबूझकर ही उनकी प्रतिक्रिया जानने के लिए दिए थे।

कक्षाओं में इस कारण कहानी लिखने की गति बहुत धीमी रही। चौथी-पाँचवीं के बच्चे भी क़रीब 40 से 45 मिनट में चार से छः वाक्य तक ही लिख पाए। बच्चों के मन में बहुत गहराई तक यह बात बैठी हुई थी कि लिखने का मतलब सीधी लाइन में और सुलेख में लिखना है। कोई रोचक प्रसंग सुनकर उसे अपनी भाषा में लिखने का आनन्द यहाँ गौण हो गया था। वे बार-बार कहानी की स्मृति, सीधी लाइन और अक्षरों की बनावट के बीच भटक रहे थे। बच्चे / हम किसी सुनी हुई कहानी या प्रसंग को लिखने से पहले उसे अपने दिमाग़ में, अपनी भाषा-शैली में, समूचा पुनर्व्यवस्थित करते, सजाते हैं, ताकि उसे काग़ज़ पर उतार सकें। सीधी लाइन और अक्षरों की सुघड़ता की अत्यधिक चिन्ता उन्हें यह नहीं करने देती। अपने लिखे को बार-बार मिटाना उन्हें अपनी ग़लतियों के प्रति अत्यधिक सशंक बनाता है।

यह सशंकता उनके समूचे सन्दर्भ में सोचने, उनके लिखने की गति और आत्मविश्वास को

कम करती है। जब हमने रबर और स्केल जमा कर लिए तो कुछ देर तो वे पशोपेश में रहे, पर फिर पहले की अपेक्षा ज़्यादा और जल्दी लिख पाए। फिर भी पेंसिल उन्हें परेशान करती रही। वे ज़ोर लगाकर लिखते तो उसकी छोटी-सी नोक टूटती या जल्दी घिस जाती। फिर बार-बार उसे छीलना पड़ता। हमने तो इसे भी लिखने की एक कठिनाई ही समझा। यद्यपि बच्चों से सुलेख में लिखवाना स्कूल का अच्छा उद्देश्य है, पर यदि इससे प्रवाहपूर्ण ढंग से लिखना बाधित हो तो हमें तरीक़ों पर पुनर्विचार की ज़रूरत है।

अशुद्धियों का डर

स्कूल प्रणाली में बच्चों की अशुद्धियों को देखने का एक तंग नज़रिया व्याप्त है। बच्चे लिखना शुरू नहीं करते कि हम बड़े शुद्धता का झण्डा लेकर पहले खड़े हो जाते हैं। इससे बच्चों में अशुद्धियों / ग़लतियों को लेकर डर या एक प्रकार का असुरक्षा बोध घर कर जाता है। इससे पहले वर्णित स्कूल अनुभव में बच्चे इसीलिए अपने लिखे को बार-बार मिटा रहे थे। हम अशुद्धियों को लिखना सीखने की प्रक्रिया में हुई ग़लतियों के रूप में नहीं स्वीकारते। प्रशिक्षणों में इसे भाषा शिक्षण की प्रमुख समस्या के रूप में रखा जाता है। इसके समाधान हेतु स्कूलों में तीन प्रमुख उपाय प्रचलित हैं। सबसे पहला, बच्चों को बार-बार बारहखड़ी लिखाना; दूसरा, 'अक्षर + मात्रा = पूरा अक्षर' के रूप में भाषा लिखाने का अभ्यास; और तीसरा, अशुद्ध लिखे गए शब्दों को बच्चों द्वारा लिखे गए नोट्स के नीचे शिक्षक द्वारा शुद्ध रूप में लिखकर एकाधिक बार नक़ल करके लिखवाना। अनेक शिक्षक अशुद्ध शब्दों के ऊपर ही बारीक़ अक्षरों में शुद्ध शब्द लिख देते हैं।

अपने अनुभवों के आधार पर मैं कह सकता हूँ कि अशुद्धियाँ ठीक करने के ये दो उपाय ख़ास मददगार नहीं हैं। ये उपाय अशुद्धियाँ ठीक करने से ज़्यादा बच्चों के लिए ऊब पैदा करते हैं। अशुद्ध शब्द के ऊपर बारीक़ अक्षरों से इस उम्मीद में शुद्ध शब्द लिख देना– कि बच्चा उसे देखकर सही शब्द पकड़ लेगा– ज़्यादा आशावादी होना है। अधिकांश बच्चे उसे देखते ही नहीं या देखकर भूल जाते हैं। एक ग़लत शब्द को सन्दर्भहीन बनाकर पाँच-दस बार उसकी नक़ल कराना तो हमीं को उबा देता है। तो बच्चे को भी उबाएगा।

विविध लेखन तलों (स्पेसेज) की उपेक्षा

हमारे स्कूलों में लिखना ज़्यादातर कॉपी के पन्नों तक सीमित रहता है। इससे एक तरह की एकरसता पैदा होती है। बाक़ी कामों के साथ लिखना सीखना भी अनेक सतहों पर हो सकता है। भारत के कुछ राज्यों में 1998 से 2003 तक चले 'ज़िला प्राथमिक शिक्षा कार्यक्रम' से सम्बन्धित प्राथमिक स्कूलों के कमरों और बरामदों की दीवारों के निचले हिस्से को हरे रंग से पेंट कर दिया गया था। मक़सद था कि दीवारों के इस रंगे हुए हिस्से पर बच्चों को आज़ादी से चित्र बनाने और लिखना सीखने का मौक़ा मिले। यह प्रयोग आंशिक रूप से ही सफल हुआ, लोकप्रिय नहीं हो पाया। कई सतहों पर लिखने के साथ बच्चे 'स्पेस' का उपयोग भी सीखते हैं। हम उन्हें ऐसे मौक़े कम ही देते हैं।

श्रुतलेख के उद्देश्य से अनभिज्ञता

लेखन अभ्यास के तौर पर स्कूलों में श्रुतलेख बहुतायत कराया जाता है। पर इससे ज़्यादा अपेक्षाएँ जोड़ ली गई हैं। एक धारणा यह है कि इसका उद्देश्य बच्चों को 'शुद्ध लिखने' का अभ्यास कराना है। यह धारणा ठीक नहीं। इसका मुख्य उद्देश्य तो पुराने समय से ही बच्चों की लेखन गति बढ़ाना रहा है। यह न समझना और 'शुद्धता' के लिए इसे कराने पर शिक्षक और बच्चों दोनों का काम कठिन बनता है। लिखना सीखने की और कठिनाइयाँ भी हो सकती हैं जिन्हें लिखना सीखने-सिखाने की विभिन्न प्रक्रियाएँ देखकर समझा जा सकता है। पर यहाँ इनकी एक सीमा रखनी होगी। अतः अब ऊपर वर्णित इन कठिनाइयों को कम करने हेतु कुछ तरीक़े सुझाना ठीक होगा जो आज़माए हुए और स्वाभाविक हैं।

मुश्किलें कम करने के तरीक़े

लिखना सीखने की मुश्किलें कम कैसे हों इसके लिए प्रशिक्षण और शिक्षण दोनों स्तरों पर आगे लिखी कोशिशें करनी होंगी।

भाषा की प्रकृति और लिखना सीखने की मानसिक प्रक्रिया पर संवाद

शैक्षिक संवादों में शिक्षक साथियों से बार-बार यह तथ्य साझा करने की ज़रूरत है कि लिखना यांत्रिक कौशल नहीं, बल्कि हमारी कल्पनाशीलता की अभिव्यक्ति है। पुराने पड़ चुके लेखन तरीक़ों की मित्रतापूर्ण आलोचना के साथ कहा जाना चाहिए कि ये ज़्यादा समय में कम नतीजे देते हैं।

नए तरीक़े शिक्षकों की बेहतर मदद करेंगे। उनके बीच कुछ पुस्तकों और लेखों पर चर्चा-विमर्श हो जैसे– *बच्चे की भाषा और अध्यापक* (डॉ. कृष्ण कुमार), *पढ़ने की दहलीज़ पर, भाषा की समझ* (एनसीईआरटी के प्रकाशन) और *भाषा सीखे न सिखाए, पर बिन सीखे आ जाए* (चर्चापत्र– रमाकांत अग्निहोत्री) एवं अर्थपूर्ण ढंग से लिखना सिखाने के अनुभवों पर अनेक शिक्षकों के लिखे-छपे अनुभव (रेखा चमोली, हेमराज भट्‍ट (उत्तराखंड) की डायरी। 'स्वभाव' की समझ से जोड़कर ही नए तरीक़ों, उपकरणों का महत्त्व समझा जा सकता है। 'प्रकृति' पर बात का मक़सद शिक्षकों को इस बात के लिए भी तैयार करना है कि वे बच्चों को सीखने के साथ भाषा का आनन्द उठाने के मौक़े भी दें।

सार्थक, समग्र भाषा उपकरणों का उपयोग

लिखना सिखाने के लिए अकेले वर्णों का विकल्प सार्थक, समग्र भाषा ही है। इस नज़रिये से लिखना सिखाने के लिए सबसे पहला टीएलएम है बच्चों के अनुभवों / स्मृतियों को लिखित रूप देना। यह उनके विचारों से निकला हुआ टीएलएम है। अतः बहुत ताक़तवर सन्दर्भ है। ये सन्दर्भ शब्द और वाक्य दोनों रूपों में हो सकते हैं। बेहतर तो यह है कि सन्दर्भ के रूप में इस्तेमाल किए जा रहे बच्चों के शब्दों और वाक्यों से हम एक पूरा दृश्य बुनें। यह दृश्य बच्चे के दिमाग़ में निर्मित या पुनर्निर्मित हो जिसमें बच्चे को अनेक परिवेशीय और परिचित वस्तुएँ एक दूसरे से तार्किक रूप से जुड़ी हुई दिखें। परस्पर असम्बद्ध शब्द या वाक्य भी, चाहे वे सार्थक हों, पढ़ना-लिखना सीखने में उतना असर नहीं पैदा करते जितना ये दृश्य पैदा करते हैं। इस तरह बच्चों की स्मृति में बैठे अनुभवों जैसे– देखे हुए तालाब, किसी नाले, सड़क आदि का सरल शब्दचित्र लिखना सीखने के लिए इस्तेमाल किया जा सकता है। छः साल का बच्चा इसके साथ थोड़ा पढ़ने के अभ्यास के साथ एक या दो वाक्य कॉपी पर उतार सकता है। इनमें सुनना-बोलना-पढ़ना-लिखना सब साथ चलेगा। लिखने के लिए वाक्यों की मात्रा क्रमशः बढ़ाई जा सकती है। सुनी, कही और पुस्तकालय की कहानियाँ-कविताएँ इनके साथ या थोड़ा बाद में ले सकते हैं। क्रमशः सन्दर्भों का आकार बढ़ाया जा सकता है।

कट-कार्डों के साथ, कक्षा के नामों, बच्चों के परिवारजनों के नामों, खाने-पीने के अनुभवों पर बातचीत और फिर लिखना हो सकता है। शुरुआती 20 से 30 शब्द वाक्य आगे लिखना सीखने का आधार बन जाते हैं।

शिक्षकीय धैर्य

लिखना (पढ़ने के साथ) सिखाने के लिए बच्चों की सीखने की विविध गतियों के साथ शिक्षक को सक्रिय तालमेल बैठाना ज़रूरी है। तरीक़े सही हैं तो थोड़ा आगे-पीछे करके सभी या अधिकांश बच्चे लिखना सीखेंगे। पर अपेक्षित नतीजों के लिए न्यूनतम तीन साल लम्बा धैर्य ज़रूरी है।

रबर, पेंसिल, स्केल को विदा

नए नज़रिये से बच्चों को लिखना सिखाना है और नतीजे पाने हैं तो इन तीनों की 'भाषा लिखने' की कक्षा से विदाई ही बेहतर है। कक्षा एक से तीन तक तो ज़रूर ही। बच्चों के लेख

Date 11-5-18

कुम्हार

नाम - अकिंता अधिकारी
नाम - अंजली शिल्पी 5th

कुम्हार चिकनी मिट्टी से दिया, मटका, ईट, मिट्टी के खिलाएन, धुरा और धोड़ा बनाता है। और उन सब को चाक में बनाता है। फिर सब सामग्री को आवाँ मे बड़ी-बड़ी लकड़ियों को जलाकर उन्हें सूख ने के लिए रख दिया जा है। फिर उन सब सामग्री को बेचकर अपना घर चलाता है।
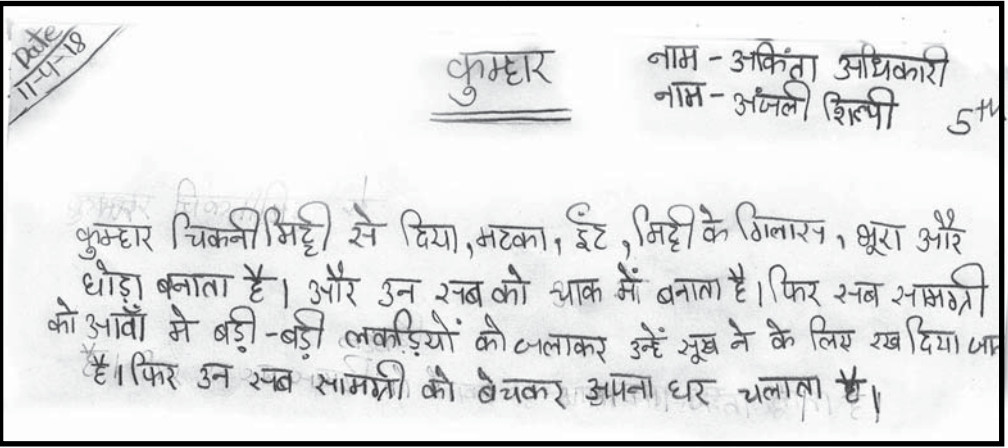
से शुरुआती कक्षाओं में इतनी ही अपेक्षा होनी चाहिए कि वह स्पष्ट पढ़ने में आए। अक्षर इतने न बिगड़ जाएँ कि शब्द का अर्थ ही न समझ आए या बदल जाए। बच्चों से रूलदार और बिना रूल दोनों ही काग़ज़ों पर लिखाया जाए। खड़िया से दीवारों या बोर्ड पर चित्रकारी और लेखन हो। पतली लकड़ी (चैलियों) से मिट्टी पर, स्केच पैन या मोटे ब्रश से चार्ट पर लिखने और चित्रकारी के मौक़े मिलें तो उनकी अँगुलियों में सधाव आएगा, वे मनचाही आकृतियाँ स्पष्टता से बना पाएँगे और कई तरह का स्पेस मैनेजमेंट सीखेंगे। यह लिखने को परोक्ष मदद पहुँचाएगा। उनसे कहें कि कॉपी पर ख़ुद लिखते हुए जो ग़लत लगे उसे एक लाइन से काटकर आगे दुबारा लिख दें। बस! इस मामले में डॉट पैन उपयुक्त है। जिन शिक्षकों का मन न माने वे चौथी-पाँचवीं कक्षाओं में सुलेख के विरल अभ्यास (आगे-पीछे झुका लेख, सीधा लेख वग़ैरह) पैन से करा सकते हैं।

भाषा को सही (शुद्ध) बरतने के लिए अभ्यास

अशुद्धियों का मसला लिखित भाषा के सन्दर्भ में ही ज़्यादा उठता है। मौखिक भाषाई व्यवहार के दौरान बहुधा ध्यान शुद्धि-अशुद्धि की ओर जाता ही नहीं। मुख्यतः लिखना सीखते हुए तीन प्रकार की 'अशुद्धियाँ' देखी जाती हैं। पहली, मात्राओं की; दूसरी, संयुक्ताक्षरों की; और तीसरी, व्याकरण सम्बन्धी। देर सवेर हमें समझना होगा कि तीनों ही तरह की ग़लतियाँ लम्बे समय से सन्दर्भहीन भाषाई क़वायद कराने का 'साइड इफ़ैक्ट' हैं। कैसे? अक्षरों से 11 मात्राओं को अलग कर देना बच्चों के लिए दो दुविधाएँ पैदा करता है। पहली, कौन-सी मात्रा आगे, पीछे, ऊपर, नीचे कहाँ लगेगी? और दूसरी, वह छोटी है कि बड़ी? इन दुविधाओं में ये ग़लतियाँ होती हैं। जब शब्द मात्राओं व अर्थ सहित अभ्यास का हिस्सा पहले से ही होंगे, तब एक ही चुनौती होगी– शब्द-ध्वनि से छपे शब्द / शब्दाकृति को जोड़ने की अधिकाधिक क्षमता पाना। व्याकरण की ग़लतियों का मुख्य कारण बच्चों को शुरू से ही व्याकरणिक भाषा-संरचनाओं (अर्थपूर्ण वाक्य-शब्द-सन्दर्भ) के साथ भाषा / लिखना न सिखाना है। इनके उपयोग के साथ वह व्याकरणसम्मत भाषा संरचनाओं को शुरू से ही आत्मसात कर रहा होगा। वैसे भी वह एक भाषा का व्याकरण तो घर से साथ लाता ही है। हम इस 'सामग्री' की परवाह नहीं करते (यहाँ आशय बच्चों को शुरू से ही व्याकरण के नियम बताने लगना नहीं है)।

स्कूल की माध्यम भाषा अलग हो तो परिवेशीय भाषा के प्रभाव में भी बच्चे लिखने में कुछ ग़लतियाँ करते हैं। पर स्कूल में भाषा शिक्षण का तरीक़ा आधुनिक व रुचिकर है तो बच्चे उन्हें ख़ुद ठीक कर लेते हैं। लिखने की अशुद्धियों और व्याकरणिक ग़लतियों को लेकर

एक सूत्र अपनाया जा सकता है– पहली से तीसरी कक्षा की छ:माही तक ‘रुचिकर तरीक़ों से अधिकाधिक भाषा उपयोग कराना’। इसके बाद ही अशुद्धियों / ग़लतियों पर ध्यान देना। इसके लिए दो गतिविधियाँ इस प्रकार हैं :

1. चौथी एवं पाँचवीं कक्षा में भाषा की अलग-अलग संरचनाओं को एक-दूसरे में बदलने का काम कराएँ, जैसे– छोटे समूहों में कविता को कहानी, कहानी को कविता, समाचार को कहानी, कहानी को समाचार में बदलना, आदि। इस काम में बच्चे भाषा के अर्थ और विचार का स्वाद लेते हुए उसका ढाँचा बदलने की चुनौती से जूझेंगे। बार-बार दी गई ‘स्क्रिप्ट’ पढ़ेंगे और उसके अनेक शब्दों को अपनी नई ‘स्क्रिप्ट’ में फ़िट करेंगे। इस प्रक्रिया में वे शब्द, अर्थ, मात्रा, व्याकरण सभी से दो चार होंगे और उनसे निबटेंगे। उनसे किसी लिखित कहानी या प्रसंग को समय, पात्र और परिवेश बदलकर लिखने को कहें। ऐसा करते हुए वे भिन्न-भिन्न परिस्थितियों में भाषा का उपयोग करना समझेंगे।

2. सुनकर कहानी लिखने को दें। लिखी कहानियों से ग़लत शब्दों की सूची बनाएँ। इनके सही रूप के शब्दकार्ड बनाएँ। हर शब्द पर अभिनय सहित बात करें कि शब्द कितने सन्दर्भों में उपयोग होता है। इन शब्दों पर वाक्य बनवाएँ / लिखवाएँ।

लेखन गति बनाने हेतु श्रुतलेख

इसका काम तब है, जब बच्चों को भाषा लिखना आ जाए। इसके दो उद्देश्य हैं। पहला, सजग होकर सुनना; और दूसरा, लेखन गति बढ़ाना। श्रुतलेख की विषयवस्तु रोचक हो और यह पाठ्यपुस्तक के बाहर से ली गई हो। इसे लिखाते हुए किसी पद-वाक्य को दोहराया नहीं जाता– ऐसा करने से पहला उद्देश्य समाप्त हो जाता है। बच्चों की क्षमता के अनुसार इसके बोलने की गति कम, ज़्यादा की जानी चाहिए। यह पारम्परिक गतिविधि इसी रूप में करना ठीक है।

बड़ी कक्षाओं में ज्ञान के जटिल रूपों को भेदने की एक राह पढ़ने-लिखने की क्षमता से होकर भी जाती है। हम अपने बच्चों को इस राह पर लाना चाहते हैं तो पढ़ने के साथ लिखना सीखने-सिखाने की विधियों को फिर-फिर सोचते और नया करते रहना होगा। समझदारी से ज्यादा नतीजे देनेवाली तनाव व भयरहित विधियाँ अपनानी होंगी।

मदन मोहन पाण्डेय को स्कूली शिक्षा और शिक्षक शिक्षा के क्षेत्र में कार्य करने का लगभग साढ़े तीन दशकों का अनुभव है। आप अनेक राज्यों के शिक्षकों एवं स्वयंसेवी संस्थाओं के लिए प्रशिक्षण कार्यक्रमों के निर्माण में शामिल रहे है। एस.सी.ई.आर.टी. उत्तरप्रदेश के शैक्षिक जर्नल ‘संकल्प’ के सम्पादक-मंडल का सदस्य रहे है। वर्तमान में वे अज़ीम प्रेमजी फ़ाउण्डेशन देहरादून में कार्यरत हैं।
सम्पर्क : madan.pandey@azimpremjifoundation.org

शैक्षिक भ्रमण

परिवेश, प्रकृति और समुदाय से सीखने की जुगत

मोनिका भण्डारी

सीखने-सिखाने के प्रयासों में ज्ञान को स्कूल के बाहर के जीवन से जोड़ने की बात अकसर होती है। बच्चों के साथ शैक्षिक भ्रमण इस उद्देश्य की दृष्टि से एक सार्थक प्रयास हो सकता है।

लेख कहता है कि कक्षा की चारदीवारी में पढ़ने-लिखने की प्रक्रिया कई बार उबाऊ हो जाती है और ऐसा लगता है कि सिर्फ़ किताबी बातें बच्चों तक पहुँच रही हैं और यह सुनने-रटने जैसी प्रक्रिया हो जाती है। यदि समय-समय पर सुव्यवस्थित और सुविचारित शैक्षिक भ्रमण आयोजित कर बच्चों को परिवेशीय वस्तुओं और घटनाओं के साथ अन्त:क्रिया करने के अवसर बनाए जाएँ तो अच्छा रहेगा। इससे न सिर्फ़ सीखना-सिखाना आनन्ददायी और ताज़गीभरा होता है वरन बच्चों को परिवेशीय घटनाओं को बारीक़ी से प्रत्यक्ष देखने-समझने, उनके बारे में बातचीत करने, सवाल पूछने व समुदाय और स्थानीय वातावरण से जुड़ने आदि के अवसर बनते हैं। जिससे सीखने-सिखाने की प्रक्रिया पुष्ट होती है।

शिक्षिका मोनिका भण्डारी ने शैक्षिक भ्रमण के अपने अनुभवों को प्रस्तुत करते हुए इसकी कार्ययोजना, तैयारी और शिक्षक की भूमिका की विस्तार से चर्चा की है। सं.

प्रस्तावना

कक्षा-कक्ष में पढ़ाए जाने वाले विषयों को यदि सम्भव हो सके तो कक्षा से बाहर ले जाकर अर्थात परिवेश से विषयवस्तु को जोड़ने की कोशिश की जाए, तो यह एक अच्छा प्रयोग हो सकता है। कक्षा में हम किसी चीज़ को सीमित रूप में समझ रहे होते हैं जबकि परिवेश में उसी चीज़ को समझने के कई रास्ते खुले होते हैं। ये अनेक रास्ते ही आनन्द के साथ सीखने-सिखाने की प्रक्रिया को आगे लेकर जाते हैं। कक्षाओं की चारदीवारी में सीखने-सिखाने की प्रक्रिया कई बार उबाऊ हो जाती है क्योंकि इसमें कई बार ऐसा महसूस होता है कि सिर्फ़ किताबी बातें ही बच्चों तक पहुँच रही हैं और यह कुछ सुनने और रटने जैसी प्रक्रिया-सी हो जाती है। बहुत से प्रकरण हमारे परिवेश से ही जुड़े होते हैं और सीखने-सिखाने की यह प्रक्रिया अपने परिवेश में जाकर बच्चों को समझ बनाने में मदद देती है। पढ़ने-लिखने और सीखने को आनन्ददायी बनाने के लिए शैक्षिक भ्रमण एक अच्छा प्रयास है। ऐसा मुझे महसूस हुआ क्योंकि मैं पूर्व में भी बच्चों के साथ ऐसा प्रयास कर चुकी हूँ और इसके परिणाम अच्छे ही रहे हैं।

शैक्षिक भ्रमण के उद्देश्य

कक्षा से बाहर जाकर शैक्षिक भ्रमण के माध्यम से हम प्रकृति और मनुष्य के सह-सम्बन्धों को बेहतर तरीक़े से समझ सकते हैं। बच्चों को तो अपने परिवेश की काफ़ी सारी जानकारी होती है और उसी जानकारी को विषय व विषयवस्तु से जोड़ना और उसमें विस्तार करना शैक्षिक भ्रमण का मुख्य उद्देश्य है। इसके अलावा बच्चे अपने

परिवेश की वस्तुओं और परिवेश में घटित होने वाली घटनाओं का बारीक़ी से अवलोकन करना सीखते हैं। इन सब घटनाओं पर बच्चों को बातचीत के अवसर भी मिलते हैं। प्रकृति में कुछ चीज़ों को प्रत्यक्ष देखने पर प्रश्न पूछने, खोजने का कौशल भी बच्चों में विकसित होता है।

शैक्षिक भ्रमण की कार्य योजना

इस भ्रमण की योजना भी बच्चों से बातचीत के दौरान ही बनी। हुआ यूँ कि एक दिन मैं कक्षा 7 में पेड़-पौधों और उनके पोषण के बारे में बातचीत कर रही थी। इसी बातचीत में परजीवी पौधों का ज़िक्र आया तो 'अमर बेल' के पौधे पर बात आई। अमर बेल इस श्रेणी के पौधों का सबसे सरल उदाहरण है जो कि अकसर किताबों में दिया रहता है। अमर बेल को मैं भी कई सालों से सिर्फ़ किताब में देखती आई थी और बच्चों को पढ़ाती आई थी। यह अमर बेल किताब में एक बड़े पेड़ के इर्दगिर्द लिपटी हुई दिखाई देती है। मैं हमेशा सोचती थी कि यह हमारे आसपास नहीं पाई जाती। सच कहूँ तो इसी पूर्वाग्रह के चलते मैंने इसे अपने आसपास कभी ढूँढ़ने की कोशिश भी नहीं की।

बहरहाल मैं बात कर ही रही थी, कि एक बच्ची जिसका नाम वंदना है बोली, "मैम हमारे घर के नीचे जो खेत है वहाँ ज़मीन पर ये अमर बेल ख़ूब फैली हुई है।" मुझे लगा कि शायद ये किसी और पौधे को अमर बेल समझ बैठी है क्योंकि मेरी किताबी समझ के अनुसार तो अमर बेल सिर्फ़ बड़े पेड़ों पर ही लिपटी रहती है फिर भी मैंने वंदना और बाक़ी बच्चों से कहा कि जल्दी ही किसी दिन उसको देखने चलेंगे।

इसके अगले ही दिन मैं कक्षा 6 में गणित विषय पढ़ा रही थी कि इतने में ही वंदना और अन्य बच्चे कक्षा में आए और किसी पौधे का गुच्छा मुझे दिखाने लगे। वो सब इतने आतुर थे मुझे दिखाने के लिए कि उन्होंने अपनी कक्षा में मेरे आने का इन्तज़ार भी नहीं किया। उस गुच्छे को देखने के बाद भी मैं पूरी तरह आश्वस्त नहीं थी कि ये अमर बेल ही है; लेकिन मुझे इस बात की ख़ुशी थी कि बच्चे अपने किताबी ज्ञान को परिवेश से जोड़ रहे थे और खोजने की कोशिश कर रहे थे। किसी भी शिक्षक के लिए यह देखना और महसूस करना सुखद होता है।

अभी अमर बेल की पहचान करना बाक़ी था। इसलिए मैंने उसकी फ़ोटो खींचकर अपने व्हॉट्सएप ग्रुप में भेजी। इस ग्रुप का नाम इनोवेटिव साइंस ग्रुप है जिसमें कि हमारे अनेक शिक्षक साथी जुड़े हुए हैं। ग्रुप के अधिकांश साथियों ने इसके अमर बेल होने की पुष्टि की। इसमें एक बात और भी अच्छी हुई कि अमर बेल पर कुछ जानकार साथियों ने और अच्छी जानकारियाँ भी साझा कीं। कुछ अन्य साथियों के लिए ये मेरी ही तरह नई चीज़ थी तो इस ग्रुप में उनकी जिज्ञासाओं का भी समाधान हुआ। अब पूरी तरह से आश्वस्त होकर मुझे अपने बच्चों पर प्यार आ रहा था कि उन्होंने सीखने की प्रकिया तो जारी रखी ही थी, साथ ही वे एक अच्छे अवलोकनकर्ता भी थे।

बस यहीं से शैक्षिक भ्रमण की कार्य योजना बनी क्योंकि अब अपने बच्चों के प्रति यह मेरी ज़िम्मेदारी बनती थी कि मैं सब बच्चों को परिवेश में ले जाकर अमर बेल और अन्य पौधों से रूबरू करवाकर उनके द्वारा एकत्रित जानकारी को पुख़्ता कर सकूँ।

इसके बाद मैं अपने विद्यालय की तीनों कक्षाओं के बच्चों को गाँव में ही भ्रमण के लिए ले गई। बच्चे बहुत ख़ुश थे और मैं भी, क्योंकि मुझे भी अपने इन बच्चों से बहुत कुछ सीखने को मिल रहा था। निर्विवाद रूप से यह बात सत्य है कि बच्चे भी हमें बहुत कुछ सिखाते हैं।

भ्रमण पूर्व की तैयारी

चूँकि हमारा भ्रमण अपने स्कूल के गाँव में ही था तो इसके लिए 3 से 4 घण्टे ही पर्याप्त थे। फिर भी कुछ तैयारियाँ ज़रूरी थीं।

सबसे पहले स्कूल की प्रधानाध्यापिका से अनुमति ली गई। सभी बच्चों को निर्धारित दिन समय पर स्कूल आने को कहा गया।

बच्चों को अपने साथ एक नोटबुक और पेन लाने को कहा गया।

पानी गाँव में ही पर्याप्त था और भ्रमण ज़्यादा दूर नहीं था। इसलिए पानी ले जाने की बाध्यता नहीं थी, पर इच्छुक बच्चे पानी ले जा सकते थे।

भोजन व्यवस्था स्कूल में ही थी अतः भोजन माता से बच्चों के स्कूल लौटने तक भोजन तैयार रखने के लिए कहा गया था।

इसके अतिरिक्त भ्रमण के दौरान सभी बच्चों को कुछ सावधानियाँ बरतने के लिए भी कहा गया। जैसे कि– चलते हुए बच्चे आपस में धक्का मुक्की नहीं करेंगे; सभी बच्चे साथ-साथ ही चीज़ों का अवलोकन करते हुए चलेंगे; किसी भी पेड़-पौधे या अवलोकित की जाने वाली चीज़ को नुक़सान पहुँचाने की कोशिश नहीं करेंगे; और भ्रमण के दौरान कोई भी ऐसा काम नहीं करेंगे जिससे हमारे पर्यावरण को नुक़सान पहुँचता हो।

कुछ अन्य काम जिनकी ज़िम्मेदारी बच्चों को दी गई, वे इस प्रकार थे–

भ्रमण के समय अवलोकन की गई सभी चीज़ों को लिखने की ज़िम्मेदारी कक्षा 8 के बच्चों को दी गई। कक्षा 7 के बच्चों को कुछ पौधों जिनकी जड़ों का अवलोकन करना था, और अमर बेल आदि को एकत्र करने की ज़िम्मेदारी दी गई। कक्षा 7 के ही दो बच्चों को अवलोकन की जाने वाली सामग्री जैसी ज़रूरी चीज़ों की फ़ोटो खींचने का काम भी सौंपा गया। कक्षा 6 के बच्चों को अवलोकन की जाने वाली चीज़ों के चित्र बनाने के साथ ही एक दूसरे की मदद करने को भी कहा गया।

भ्रमण का प्रारम्भ

पूर्व निर्धारित कार्यक्रम के अनुसार भ्रमण वाले दिन सभी बच्चे विद्यालय में एकत्रित हुए।
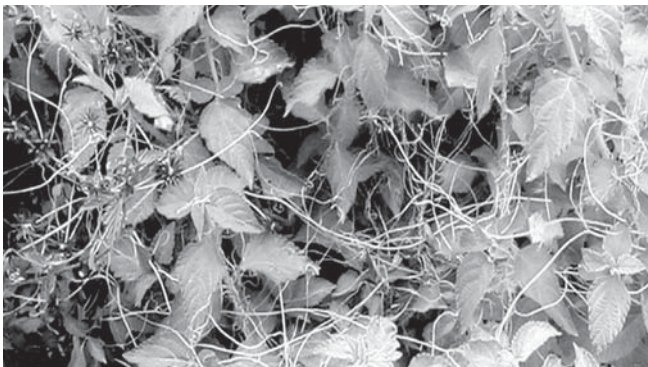
चूँकि बच्चों की संख्या ज़्यादा नहीं है अतः कक्षाओं के ही तीन ग्रुप बनाए गए। विद्यालय से चलकर सबसे पहले वंदना का ही घर आता है। अतः सबसे पहले उसके घर के नीचे के ही खेत में गए। वहाँ जाकर मैं और सभी बच्चे आश्चर्य से भर गए। अमर बेल तो छोटी-छोटी वनस्पतियों से लिपटकर पूरी ज़मीन पर फैली हुई थी। और इसका आदि-अन्त कहीं दिखाई नहीं दे रहा था। बच्चे पूरी तरह छानबीन कर रहे थे कि कहीं इसकी जड़ दिख जाए, पर वह दिखाई नहीं दी। बच्चों ने और मैंने आसपास के पेड़ों पर भी इसे देखने की कोशिश की, पर यह पेड़ों पर भी नहीं थी। अब इसको देखने के बाद यह पता चला कि यह परजीवी पौधा सिर्फ़ बड़े पेड़ों पर ही नहीं, बल्कि छोटी-छोटी वनस्पतियों पर लिपटकर भी अपना भोजन प्राप्त करता है। इसी बीच वंदना की मम्मी भी घर से बाहर आ चुकी थीं और वह भी बच्चों को इस तरह पेड़-पौधों का अवलोकन करते हुए देखकर ख़ुश हुईं। वो एक आशा कार्यकर्ता हैं और उन्हें अपने इसी काम के सिलसिले में ब्लॉक मुख्यालय के अस्पताल में जाना था तो उनसे बहुत ज़्यादा बातचीत तो नहीं हो पाई, लेकिन उन्होंने शैक्षिक भ्रमण के इस प्रयास की सराहना की।

अन्य स्थानीय अवलोकित की गई स्थानीय वनस्पतियों का विवरण

अमर बेल के अवलोकन के बाद उसी खेत के थोड़ा ऊपर जाकर कुछ ऐसे पौधे दिखाई दिए जिनको बच्चे अच्छी तरह से जानते-

समझते थे। जैसे–

पुदीना– यह लगभग हर घर में पाया जाता है इसलिए बच्चों को पता था कि यह मुख्यतः चटनी बनाने के काम आता है। कुछ ने कहा कि ये जूस बनाने के काम भी आता है। कोई कह रहा था कि इसकी ख़ुशबू उन्हें बहुत पसन्द है।

हल्दी– पुदीने के पास में ही हल्दी का पौधा भी था। इसे भी बच्चे बख़ूबी पहचानते थे। कई बच्चे बता रहे थे कि उनके घर में हल्दी का पौधा लगा हुआ है और हल्दी को वे मसाले के रूप में खाने में इस्तेमाल करते हैं।

इसके अलावा बच्चों ने 'अरबी (पिंडालू)', 'आम', 'अमरूद' आदि के पेड़-पौधे भी देखे।

इन पौधों को देखने के बाद हम सब आगे खेतों की तरफ़ गए। थोड़ी दूर जाकर ही देखा कि एक बड़े-से पेड़ पर एक बड़ा-सा 'छत्ता' जैसा दिखाई दिया जो कि बहुत ही सुगठित तरीक़े से बना हुआ था। हालाँकि उसमें मधुमक्खियों की कोई आवाजाही नहीं दिखाई दे रही थी। कुछ बच्चे और मैं इसे मधुमक्खी का छत्ता समझ बैठे थे, लेकिन यह शहद वाली मक्खियों का छत्ता नहीं था। बच्चों ने स्थानीय भाषा में इसका नाम 'खड़बच्चा' बताया। इसके बारे में कुछ और जानकारी चाहने के लिए एक ग्रामीण महिला से पूछा तो उन्होंने इसका एक और स्थानीय नाम 'अडगाल' बताया। उन्होंने बताया कि ये लाल-पीले रंग की मक्खियाँ होती हैं जो शहद नहीं बनातीं। उन्होंने यह भी बताया कि छेड़ने पर ये बहुत ज़ोर से काटती हैं।

इस बीच बच्चे अपनी अवलोकित चीज़ों को अपनी नोटबुक में भी दर्ज कर रहे थे। इसके आगे चलते रहने पर बच्चों ने 'भीमल', 'गुरियाल', 'अखरोट', 'चुल्लू' आदि के पेड़ भी देखे। आगे नहर से होकर सब बच्चे चलते जा रहे थे और बता रहे थे कि किस तरह गाँव में नहर से सिंचाई होती है। बच्चों ने बताया कि जब वे लोग खेतों में 'छेमी', 'आलू' और अन्य सब्ज़ी आदि लगाते हैं तो बारी-बारी से गाँव का हर परिवार सिंचाई करता है। और कभी-कभी आधी रात को भी उनकी सिंचाई की बारी आती है। ऐसे में उनके घर के बड़े सदस्य ही सिंचाई के लिए जाते हैं। बारी-बारी से सिंचाई करने को यहाँ की स्थानीय भाषा में 'पांतू' बोलते हैं।

नहर से होकर हम सब जलस्रोत पर पहुँचे। वहाँ पर गाँव की कुछ महिलाएँ कपड़े धो रही थीं। बच्चों से उन्होंने कुछ बातचीत की और मुझसे भी पूछा कि आज बच्चों को कहाँ लेकर जा रही हो? मैंने उन्हें अपना उद्देश्य बताया तो बोलने लगीं कि अब स्कूल में ऐसा भी होने लगा है! उन्हें शायद आश्चर्य हो रहा था कि घूमने में भला कैसी पढ़ाई? वे सब थोड़ा मुस्कराईं और अपने काम पर लग गईं।

बहरहाल बच्चों को अब प्यास लग आई थी। सब बच्चों ने जलस्रोत का ठण्डा पानी पिया और प्यास बुझाई। ये जलस्रोत आज भी गाँवों की 'जीवन रेखा' है। घर-घर में आने वाला पानी कभी-कभी बारिश या अन्य कारणों से पाइपलाइन के क्षतिग्रस्त होने के कारण बन्द भी हो जाता है लेकिन इस जलस्रोत का पानी कभी बन्द नहीं होता। ये सब बातें बच्चे ही मेरे पूछने पर मुझे बताते जा रहे थे।

जलस्रोत से थोड़ी ही दूरी पर एक तालाब था जिसमें उनके पशुओं जैसे– भैंस आदि को नहलाया जाता था। तालाब का पानी काफ़ी गन्दा और कीचड़युक्त था। जब मैंने उन्हें पूछा कि इस तालाब में तुम्हें क्या-क्या दिखाई देता है तो उन्होंने बताया कि 'मेंढक', 'पनियारी', और कुछ छोटी पूँछ वाले छोटे जीव भी। छोटी पूँछ वाले शायद 'टैडपोल' हो सकते थे। इसपर भी थोड़ी बातचीत हुई और मैंने उन्हें बताया कि टैडपोल मेंढक के वयस्क जीवन की पूर्व अवस्था है। इसके अतिरिक्त मैंने उन्हें ये भी बताया कि इस तालाब के पानी में अनेक सूक्ष्मजीव भी हो सकते हैं जिन्हें हम सामान्य आँखों से नहीं देख पाते और इसके लिए हमें सूक्ष्मदर्शी की ज़रूरत पड़ती है।

तालाब के पास ही बड़ा-सा टैंक था। उसमें पानी तो नहीं था पर काफ़ी मात्रा में 'शैवाल

(काई)' जमा हुआ था। उसे भी बच्चों ने देखा और बताया कि इसे हमने अपने घरों में पानी वाली जगहों पर भी देखा है। शैवाल को देखकर बच्चों के मन में सवाल उठना स्वाभाविक ही था। और मैं चाह भी रही थी कि बच्चे अपनी जिज्ञासा को न दबाएँ और बेझिझक सवाल पूछें। मैंने उनसे कहा कि अपने मन में उठने वाले प्रश्नों को ज़रूर पूछें।

बच्चों ने प्रश्न करना शुरू किया

प्रश्न – ये नल के पास या ज़्यादा बारिश वाली जगहों पर ही क्यों दिखाई देते हैं?

मैंने उन्हें बताया कि ये पौधे नमी वाले स्थानों पर ही पाए जाते हैं। जहाँ पर भी पानी लगातार गिरता हो या पानी जमा रहता हो, वहाँ पर ये अकसर पाए जाते हैं।

प्रश्न – क्या ये भी अमर बेल की तरह किसी और पौधे से भोजन लेते हैं?

उत्तर – नहीं।

फिर मैंने ही उनसे प्रश्न किया कि क्या ये अमर बेल की तरह किसी अन्य पौधे से लिपटे हुए दिखाई दे रहे हैं? उत्तर नहीं में मिला।

प्रश्न – तो ये खाना कहाँ से खाते हैं?

उत्तर – मैंने उन्हें बताया कि ये जीव स्वपोषी हैं। ये अपना भोजन स्वयं बनाते हैं।

प्रश्न – क्या ये प्रकाश-संश्लेषण की क्रिया करते हैं?

उत्तर – हाँ, बिलकुल करते हैं।

प्रश्न – ये तो बहुत छोटे हैं। इनकी पत्तियाँ भी अलग से नज़र नहीं आ रही हैं?

उत्तर – इनमें पौधों के समान जड़, पत्तियाँ आदि अलग-अलग नहीं पाए जाते हैं। ये एककोशिकीय या बहुकोशिकीय हो सकते हैं।

अब बच्चे आपस में ही इसपर बातचीत करने लगे थे।

यहाँ से होते हुए हम कुछ खेतों को पार करते हुए आगे बढ़े। खेतों से चलते हुए मैं कुछ 'घास' और एक दो 'दाल' के पौधे जड़सहित उखाड़कर साथ में ले आई थी। इनको साथ में लेकर हम गाँव के एक मन्दिर में पहुँचे। सभी बच्चे थोड़ा थक भी गए थे तो मन्दिर में ही सब इकट्ठे हो गए और बैठकर आराम करने लगे। मन्दिर में पहुँचकर मुझे एक पुराना छात्र दीपक मिल गया। सब बच्चे उसके साथ बातें करने लगे। वो हम सबको देखकर बहुत ख़ुश हुआ। दीपक दरअसल एक दिव्यांग बच्चा है। वह चलने-फिरने में असमर्थ है। वह घिसट-घिसट कर ही चलता है। स्कूल भी वह ऐसे ही आया करता था। उसके हाथ-पैर इसी वजह से चोटिल रहते हैं। पर आज ख़ूब सारे बच्चों को देखकर वह ख़ूब ख़ुश हुआ और बातचीत करने लगा। दीपक को देखकर मन में उसके लिए कुछ न कर पाने का अफ़सोस पहले भी होता था और आज भी हुआ। वह शारीरिक रूप से असमर्थ होने के साथ-साथ मानसिक रूप से भी कमज़ोर है। स्कूल में पढ़ने के दौरान उसे विभाग से वित्तीय सहायता मिल जाया करती थी। अब वह काफ़ी बड़ा हो चुका है लेकिन चल-फिर न पाने के कारण अधिकतर मन्दिर में बैठा रहता है।

मन्दिर के सामने एक दुकान है जो कि बन्द है। खुली होने पर बच्चे उसका भी अवलोकन कर पाते, लेकिन यह सम्भव नहीं हो पाया।

बहरहाल जो पौधे मैं उखाड़कर लाई थी, मैंने बच्चों से उनकी जड़ों का अवलोकन करने को कहा। दोनों पौधों की अलग-अलग जड़ें थीं। बच्चे उन जड़ों के बारे में जानना चाह रहे थे कि ये अलग-अलग क्यों हैं? बच्चे फिर प्रश्न करने लगे थे कि एक जड़ पूरी तरह गुच्छे के रूप में है और दूसरी में एक बीच में लम्बी-सी जड़ है और इसी से बहुत सारी छोटी-छोटी शाखाएँ जैसी निकल रही हैं। क्या और तरह की जड़ें भी पेड़-पौधों में पाई जाती हैं? उनकी जानकारी के लिए मैंने उन्हें बताया कि मुख्य रूप से जड़ें दो प्रकार की होती हैं– पहली, 'झकड़ा जड़' (fibrous root)- ये जड़ें गुच्छों के रूप में उत्पन्न होती हैं और सभी जड़ें लगभग एक ही आकार व मोटाई की होती हैं। ये जड़ें ज़मीन के बहुत नीचे तक नहीं जाती हैं। जैसे– घास, गेहूँ, चावल, मक्का, आदि; और दूसरी, 'मूसला जड़' (tap root)- इसमें एक मुख्य जड़ होती है और इसी से बहुत सारी अन्य सहायक जड़ें निकली रहती हैं। ये गुच्छों के रूप में नहीं होती हैं और ज़मीन में बहुत गहरे तक जाती हैं। जैसे– गाजर, चुकन्दर, दाल आदि।

इन जड़ों का अवलोकन करने के बाद और दीपक से विदा लेकर हम गाँव की तरफ़ नीचे की ओर चले। रास्ते में 'पंचायत भवन' आया। मैं वहाँ भी बच्चों को लेकर गई। पंचायत भवन के गाँव में महत्त्व के बारे में मैंने बच्चों से बातचीत की। बच्चों ने बताया कि गाँव में जो बैठकें होती हैं और घर-गाँव के छोटे-छोटे मांगलिक कार्य जैसे– शादी आदि होते हैं वे सब यहाँ किए जाते हैं। सब तो नहीं, पर छोटे-छोटे कामों के लिए पंचायत भवन उपयोग में लाया जाता है। बच्चों ने बताया कि जब दीपक का मकान बारिश से टूट गया था तो उनका परिवार यहीं आकर रहा था कुछ समय के लिए। इन सब बातों से निष्कर्ष निकला कि गाँव में कुछ ऐसे स्थान होते हैं जो सबके लिए बराबर रूप से काम आते हैं। ये स्थान 'सामूहिकता' को भी बढ़ावा देते हैं और आपस में प्रेम और मदद करने जैसी बातों को भी बढ़ावा देते हैं। पंचायत भवन में कुछ कबूतरों ने अपना 'घोंसला' बना रखा था। बच्चे घोंसला और अण्डे देखकर ख़ूब ख़ुश हुए।

अब हम वापसी की ओर थे। स्कूल की तरफ़ एक घर के पास हम सब रुक गए। वहाँ पर एक 'कपास' का पेड़ था। इसे देखकर सबसे ज़्यादा ख़ुशी मुझे ही हुई, क्योंकि मुझे अपनी तीनों कक्षाओं में 'कपास से रेशों' तक वाले टॉपिक पढ़ाने थे। अतः मुझे साक्षात टीएलएम मिल गया था जो कि इन टॉपिकों को शुरू करने में मेरा मददगार होने वाला था। कपास के पेड़ पर कुछ कलियाँ खिल रही थीं और कुछ तो पूरी तरह हँसते हुए कपास को बाहर झाँकने का मौक़ा दे रही थीं। इस पेड़ के बारे में बातें करते हुए हम आगे की ओर बढ़े। और बच्चों ने कहा कि जब हम इस टॉपिक को पढ़ रहे होंगे तो कुछ कपास अपने साथ लेकर आएँगे।

इन बातों को करते-करते हम स्कूल की ओर बढ़ रहे थे। थोड़ी ही देर में सब बच्चे अपने स्कूल पहुँच गए। सबको भूख भी लग आई थी। अन्य शिक्षिकाएँ और भोजन माता प्रतीक्षा कर रही थीं। बच्चे आपस में अपनी

इस छोटी-सी यात्रा की बातों में मशग़ूल थे। फिर सबने हाथ-मुँह धोकर गरमागरम खाने का आनन्द लिया।

इसके बाद बच्चों को अपनी इस छोटी-सी यात्रा का लेखा-जोखा लिखने को मैंने कहा तो वे घर से लिखकर लाने को सहर्ष तैयार थे। स्कूल समयावधि समाप्ति पर सब बच्चे अपने-अपने घरों को चले गए। और मैं सोच रही थी कि यह भ्रमण बच्चों को सीखने की प्रक्रिया में मददगार होगा या नहीं?

अन्त में

मुझे लगता है कि इस तरह के छोटे-छोटे शैक्षिक भ्रमण हमें कुछ-न-कुछ ज़रूर सिखाते हैं। सिर्फ़ बच्चे ही नहीं, हम भी बहुत कुछ सीख रहे होते हैं। बच्चे भी हमें बहुत कुछ सिखा जाते हैं। और ये धरती तो अपने अन्दर कितनी ही चीज़ों को समाए हुए हैं। उसमें से हम थोड़ा भी समझ पाए तो हमारे लिए ही उपयोगी रहेगा। बच्चे भी बाहर जाकर ख़ुश होते हैं और रुचि लेते हैं। ज़रूरी नहीं कि भ्रमण हेतु अधिक दूर ही जाया जाए। हम अपने आसपास भी बच्चों को लेकर जा सकते हैं। इस तरह के शैक्षिक भ्रमण बच्चों में अवलोकन क्षमता को बढ़ाते हैं और अपने परिवेश व पर्यावरण के प्रति बच्चे जागरूक और संवेदनशील बनते हैं। बच्चे ख़ुद से चीज़ों को समझने और खोजने का प्रयत्न करते हैं। कुछ प्रश्न पूछने की क्षमता का भी विकास होता है। शैक्षिक भ्रमण समय-समय पर विद्यालय में किए जाने चाहिए क्योंकि ये बच्चों को प्रकृति से जुड़ने के अवसर देते हैं।

बच्चों की सुरक्षा की ज़िम्मेदारी लेते हुए और छोटी-छोटी सावधानियों जैसे– पर्यावरण को नुक़सान न पहुँचाना, आपस में सहयोग करना आदि को ध्यान में रखते हुए विद्यालयों में समय-समय पर शैक्षिक भ्रमण की कार्य योजना ज़रूर बनाई जानी चाहिए।

व्यक्तिगत रूप से मेरे लिए यह भ्रमण कुछ नई जानकारी देने वाला हुआ। पूर्व में जिन चीज़ों का पता नहीं था उनकी जानकारी हुई। बच्चों के साथ-साथ मुझे भी सीखने को मिला।

आज का दिन मुझे काफ़ी अच्छा और सार्थक लगा एवं साथ ही सन्तुष्टि हुई कि बच्चों को अपने परिवेश से जुड़ने और सीखने-समझने का अवसर दे पाई।

मोनिका भण्डारी राजकीय कन्या उच्च प्राथमिक विद्यालय बल्डोगी, विकासखण्ड चिन्यालीसौड़, जनपद उत्तरकाशी में सहायक अध्यापिका हैं। उन्हें प्राथमिक शिक्षा में कार्य करने का सोलह साल का अनुभव है। उन्हें कविताएँ और डायरी लिखना व विविध साहित्य पढ़ना अच्छा लगता है।

सम्पर्क : monikaamod6006@gmail.com

स्कूल में मानवीय संवेदनाओं की पहल

मुकेश मालवीय

बच्चों में मौजूद संवेदनाओं को, भावनाओं को स्कूल कैसे पोषित कर सकता है यह लेख इसपर प्रकाश डालता है। लेखक अपने अनुभवों और अपने साथी शिक्षकों के अनुभवों को साझा करते हैं और बताते हैं कि कैसे एक शिक्षक एक कक्षा में सीखने-सिखाने का काम करते हुए बच्चों में परस्पर सम्मान, हमदर्दी और सहअस्तित्व जैसी भावनाओं को पोषित कर सकता है। सं.

हम सभी बड़ों के पास बचपन को देखने के या बच्चों के साथ समय लगाने के कम या ज़्यादा अनुभव हैं। बच्चे अपने आसपास के सजीवों के भावनात्मक संवेगों को पहचानकर वैसी ही भावनात्मक प्रतिक्रिया करते हैं। अपनी अभिव्यक्ति को भाषा के रूप में व्यक्त करना सीखने से पहले वे अपना सारा संवाद भावों के ज़रिए ही करते हैं। इस छोटी उम्र तक वयस्कों द्वारा उनके साथ किया जाने वाला संवाद शाब्दिक कम एवं भावात्मक ज़्यादा होता है। थोड़ा बड़े होने पर जब वे भाषा का इस्तेमाल करना सीखते हैं तब केवल शाब्दिक उच्चारण से किसी भाव की अभिव्यक्ति करना उनके लिए मुश्किल होता है इसलिए वे बड़ों से अपेक्षा करते हैं कि वे सीमित शब्दों के साथ की गई उनकी अभिव्यक्ति को समझ लें। वे अपने भावों के सम्प्रेषण के लिए शब्दों के अलावा कुछ लाड़-प्यार की ध्वनियों, चेहरे की भंगिमाओं एवं आवाज़ का उतार-चढ़ाव, अंगों के संचालन आदि की भी मदद लेते हैं। हालाँकि बड़ों के द्वारा उनसे किया जाने वाला संवाद धीरे-धीरे शाब्दिक अधिक होने लगता है (यह भी सम्भव है कि बड़ों के पास भी भावनाओं और संवेदनाओं के लिए शब्द कम हों)। आगे जब स्कूल लिखित भाषा का इस्तेमाल सिखाता है तो यह भाषा बच्चों को भाव एवं संवेदनाओं की ध्वनि सुनाने में बहुत ही कमज़ोर होती है। इस लिखित भाषा को अपनाकर भी बच्चे अपने भावों और विचारों को लिखित रूप में व्यक्त करने में असमर्थ होते हैं।

सहचर्य से भावनात्मक शब्दावली

आज से कुछ समय पहले तक (ग्रामीण परिवेश में अब भी) बच्चों का मिट्‌टी से परिचय होता ही था। गीली मिट्‌टी को हाथ में लेकर उससे कोई आकार जैसे– खिलौने या पुतले बनाना सभी को आ जाता था। सायकिल के पुराने टायर को लुढ़काने से लेकर सायकल चलाना सीखने तक के रोमांच से सभी बच्चे रूबरू होते। पेड़ पर चढ़ना बचपन की अनिवार्यता थी। घरघूला का खेल जिसमें बड़ों का अभिनय बहुत संजीदगी से किया जाता। बच्चों के ये खेल उन्हें निर्णय लेना, जोखिम उठाना, नेतृत्व करना, साथी के साथ चलना, साहस करना आदि कई सामाजिक गुण सहज ही बरतने के साथ ही एक भरी-पूरी भाषा का इस्तेमाल भी करना सीखाते थे। लोरी, संस्कार गीतों एवं लोक कथाओं से परिचय सहज था। यह बचपन बच्चों को सहज ही कलात्मक, रचनात्मक, कल्पनाशील और संवेदनशील बनाता था।

प्रायः स्कूल बच्चों के इस आपसी सहचर को पोषित नहीं करते। मिलकर सीखने, एक दूसरे से सीखने, टोली या समूह में कुछ करने के मौक़े स्कूल में कम ही उपलब्ध होते हैं, वरन आज स्कूल व्यक्तिगत प्रतिस्पर्धा को बढ़ाते हैं। प्रतिस्पर्धा संवेदनाओं को विकसित नहीं करती।

चित्र : हीरा धुर्वे

स्कूल जिस तरह समूह में सीखने की क्षमता को नज़रअन्दाज़ करते हैं वहीं व्यक्तिगत मौलिकता को भी कोई जगह नहीं देते। अधिकांश स्कूल मानते हैं कि बच्चे अनुकरण से सीखते हैं और इसी के चलते स्कूल सबको एक जैसा अनुकरण करने के लिए बाध्य करते हैं। जैसे– कब खड़े होना है, कैसे बैठना है, लड़के अलग बैठेंगे, लड़कियाँ अलग, घण्टी की आवाज़ से संचालित होना, जो बताया गया है वही बोलना है, जो लिखा गया है वही पढ़ना है, जो पढ़ा गया है वही लिखना है आदि। यहाँ सबको एक जैसा सीखने का इस क़दर दुराग्रह होता है कि कोई बच्चा अगर थोड़ा-सा भी हटकर कुछ कहने की या समझने की कोशिश करने के लिए रुके तो उसे पिछड़ा ठहराकर सब आगे बढ़ जाते हैं। सोचने-समझने और फिर अपनी तरह से आगे बढ़ने के मौक़े स्कूलों में कम ही होते हैं। स्कूल का वक़्त विषयों के शिक्षण में ही व्यतीत होता है और विषयों की विषयवस्तु इतनी शुद्धता के साथ लिखी जाती है कि वह बच्चों के साथ अर्थपूर्ण संवाद नहीं बनाती। कम ही शिक्षकों को वह हुनर आता है जिससे वे उस विषयवस्तु के साथ बच्चों का जुड़ाव, रोचकता, चुनौतियों, रोमांच का अनुभव या भावानुभूति करा सकें। शिक्षक बच्चों के साथ ऐसे कम ही अवसर निर्माण कर पाते हैं जहाँ बच्चों को अपनी कल्पनाओं और अपने विवेक का इस्तेमाल कर उस विषयवस्तु से जुड़ने का मौक़ा हो। बच्चे के मौलिक चिन्तन के लिए स्कूल में परिस्थिति और संवाद कम ही हैं।

कोमल भाव और संवेदना के अनुभव तथा इनके लिए अपनी भाषा में शब्दों से वंचित होकर बड़े होने में कमतरी रह जाती है। शिक्षा मर्मज्ञ बताते हैं कि संवेदना और भावनाओं की शब्दावलियों और अनुभवों को कला और साहित्य समृद्ध कर सकते है। यहाँ मैं अपने कुछ अनुभवों की बात करना चाहता हूँ। इन अनुभवों को दो भागों में बाँटकर देख सकते हैं। शायद ये कला और साहित्य के ही सरलीकृत तरीक़े थे जिसमें कला केवल प्रदर्शनकारी कला नहीं थी न ही साहित्य किसी पुस्तकालय में सिमटा था। इस लेख के पहले भाग में मेरे अपने शिक्षण के दौरान बच्चों के साथ किए जाने वाले क्रियाकलाप एवं गतिविधियाँ जो कि एक प्रायोगिक पाठ्यक्रम के हिस्से थे, और दूसरे भाग में शिक्षक साथियों के व मेरे द्वारा कक्षा में किए गए काम के अनुभव हैं। शिक्षक साथियों के ये अनुभव उन्होंने कभी किसी चर्चा में सुनाए थे जिन्हें बाद में मैंने भी अपनाया।

प्रायोगिक पाठ्यक्रम के मेरे अनुभव

1. कुछ-कुछ बनाना– गीली मिट्टी से, खपरैल को घिसकर, पत्तियों से, अन्य वस्तुओं से, पेंसिल या पेन से काग़ज़ पर कुछ बनाना और अपने बनाए हुए आकार या चित्र के बारे में बताना।
2. स्पर्श से पहचानना– वस्तुओं को, पत्तियों को और अपने-अपने साथियों को।

3. देखना– रोज़मर्रा की वस्तुओं को, पेड़ों को, स्थानों को देखना और उनकी बातें करना।

4. बिना देखे अपने साथियों की आवाज़ पहचानना, बिलकुल शान्त होकर आसपास की आवाज़ें सुनना और फिर उन आवाज़ों के बारे में बताना।

5. टोली में काम करना जिसमें सभी की भागीदारी बनाना, सामूहिक चर्चा में भाग लेना, दूसरों को सुनना और अपना मत व्यक्त करना।

6. कहानी, कविता, गीत, विवरण, विज्ञापन सुनना। नए विज्ञापन, कहानी, कविता बनाना, कहानी आगे बढ़ाना, अधूरी कहानी पूरी करना। कहानी कविता की किताबें पढ़ना।

इन सभी गतिविधियों में एक सहज सहचर्य होता है और इससे रचनात्मक वार्तालाप की परिस्थिति बनती है जिसमें बच्चों के मन में जो चल रहा है वे उसे अपनेपन के साथ ऐसे शब्दों में व्यक्त कर पाते हैं जो उनके अपने हैं। उनके अनुभव, भाव और तर्क को बताने के लिए उन्हें भाषा बाधा न बनकर एक सहूलियत या मददगार लगे, ऐसा उन्हें आत्मविश्वास मिलता है। इन परिस्थितियों में बच्चे अपने अनुभवों के लिए नई भाषा गढ़ना जानते हैं। जैसे– दो पत्तियों को छूकर उनमें अन्तर को बताने के लिए बच्चों ने अलग-अलग नाम दिए। एक ये नाम थे– कुर्री कुर्री और चिकट। इसी तरह एक सिक्के की गिरने की आवाज़ को एक बच्चे ने 'तिडिम तिडिम ठन्न' नाम दिया। अपने साथियों के परिप्रेक्ष्य को समझना और उनके अनुभव या भाव जो वह शब्दों के ज़रिए व्यक्त कर रहे हैं उन्हें समझकर और महसूस कर अपनी भावनात्मक प्रतिक्रिया देना भी इन गतिविधियों से सम्भव हुआ।

पाठ्यपुस्तकों की कहानियों पर शिक्षक साथियों के अनुभव

एक शिक्षक (सुशीलजी) ने मुझे अपनी कक्षा का अनुभव बताया। कक्षा में प्रेमचंद की कहानी 'ईदगाह' पर बात हो रही थी। कहानी 'ईदगाह' में रमज़ान के मेले में सब बच्चे अलग-अलग खिलौने ख़रीद रहे हैं पर हामिद के पास तीन ही पैसे हैं और वह इन पैसों से अपनी दादी अमीना के लिए चिमटा ख़रीदकर लौटता है। दादी रो रही है अपने हामिद को गोद में बैठाकर। इस कहानी में लिखा है, "उसका स्नेह ऐसा नहीं है जो प्रगल्भ हो और अपनी सारी कसक शब्दों में बिखेर दे, यह मूक स्नेह था ख़ूब ठोस रस और स्वाद से भरा हुआ"। यह मूक स्नेह है, यह भाव शब्दों से व्यक्त नहीं हो सकता। आगे प्रेमचंद लिखते हैं कि "बच्चे में कितना त्याग, कितना सद्भाव और कितना विवेक है"। इन शब्दों को हम इस उत्साह में जल्दी से पढ़ जाते हैं कि हामिद का चरित्र बहुत ऊँचा हो गया है। हम हामिद की इस छाया में इन शब्दों को देख रहे हैं, पर वास्तव में दादी हामिद के लिए जब ऐसा सोच रही है तो इसके मायने थोड़े अलग हैं। दादी जिसने अपनी पूरी कोशिश से हामिद का बचपन बचाए रखने की जद्दोजहद की, पर हामिद में त्याग, समझदारी और विवेक का आना उसका समय से पहले बड़ा हो जाना है। दादी अपनी इस विफलता पर रो रही है। यह रोना इसलिए निस्तब्ध है क्योंकि हामिद का चिमटा ख़रीदकर लाना दादी को हतप्रभ करता है।

माने वही शब्द जब एक संवेदनशील शिक्षक के पास आते हैं तो वह अपने बच्चों को भी वह अनुभूति और अनुभव करा पाता है जो उसके साथ हो रही है।

एक और कक्षा का उदाहरण है एक शिक्षक (दुर्गेशजी) जब पाँचवीं क्लास में नागार्जुन की कविता 'अकाल और उसके बाद' पढ़ा रहे थे। पंक्तियाँ थीं, "कई दिनों तक चूल्हा रोया चक्की रही उदास। कई दिनों तक कानी कुतिया सोई उसके पास"। वे बताते हैं कि इन छोटे बच्चों को मैं अकाल बताने के लिए भूख को अनुभूत करा रहा था। किसी घर में कई दिनों तक चूल्हा नहीं जले या खाना नहीं बनता तो क्या कारण होते होंगे। वे बच्चों से इस कविता के आगे के दृश्यों

पर बात करते हुए भाव विभोरित हो अनायास ही रोने लगते हैं। उनके साथ पूरी क्लास रो रही है। कविता जीवन्त हो उठती है। अकाल को न सही, पर भूख और ग़रीबी से करुणा का अद्‌भुत भाव वहाँ पैदा हुआ। बच्चों ने इंसानों की ही नहीं, दूसरे प्राणी जिसमें कुत्ते, बिल्ली, छिपकली और कौआ सभी शामिल थे आदि की भूख का भी अहसास किया।

इसी तरह एक शिक्षिका (सरोज बहनजी)

चित्र : हीरा धुर्वे

आठवीं क्लास में रवीन्द्रनाथ टैगोर की कहानी 'याचक और दाता' बच्चों के साथ पढ़ रही हैं। पहले वे ख़ुद पूरी कहानी बच्चों को पूरी तन्मयता से पढ़कर सुनाती हैं। बच्चे कहानी सुनते हुए उस कहानी में रमे हुए हैं। अब वे बच्चों से कहानी पर बातचीत करती हैं। कहानी में कौन-कौन से पात्र हैं। बच्चे बताते हैं– एक बूढ़ी महिला है, एक बच्चा है, एक सेठजी हैं, एक मुनीम है। वे फिर बूढ़ी महिला के बारे में पूछती हैं– वह किस उम्र की है, क्या करती है आदि आदि। आपसी बातचीत से हरेक पात्र का एक पूरा चित्र बच्चों के मस्तिष्क में बन रहा है। इन पात्रों के निर्माण में वे कहानी के उन वाक्यों को पुनः पढ़ती हैं जिनसे उस पात्र की विशेषताएँ आती हैं जैसे– वह प्रतिदिन मन्दिर के दरवाज़े के पास जाकर खड़ी होती, दर्शन करने वाले को पुकारती, उसकी बोली की मिठास दर्शनार्थियों को आकर्षित करती और लोग नेत्रहीन वृद्धा से महकते फूल लेते, उसकी झोली में पैसे डालते और आगे बढ़ जाते। बच्चे बताते– वह बुज़ुर्ग थी, नेत्रहीन थी, मीठा और प्यार से बोलती थी, फूल बेचती थी पर फूल के कोई निश्चित पैसे नहीं माँगती थी। वे कहानी की घटनाओं पर बात करती हैं।

वे कुछ ऐसे वाक्यों पर रुकतीं और बच्चों से समझतीं कि इन लाइनों का मतलब क्या है जैसे– 'ममता का आँचल पाकर बच्चा सब कुछ भूल गया था।' 'वह बच्चे का सुखद भविष्य बुन रही थी।' 'मन्दिर का पुजारी उसकी ममता पर गर्व महसूस करता था।'

बहनजी कुछ वाक्यों पर रुकतीं और पूछतीं कि ऐसा क्यों लिखा है जैसे– 'सेठ बनारसी दास की देवभक्त और धर्मात्मा के रूप में पहचान थी।' वे पूछतीं– यह 'पहचान थी' क्यों लिखा है, सेठजी 'देवभक्त और धर्मात्मा थे' क्यों नहीं लिखा। या मुनीमजी ने सेठजी की ओर रहस्यमयी दृष्टि से देखने के बाद कहा, 'तेरे नाम तो कुछ भी जमा नहीं है।' यहाँ रहस्यमयी दृष्टि का क्या मतलब है आदि। वे इस पाठ के भावनात्मक हिस्सों को बच्चों तक पहुँचाने में कामयाब रही हैं।

एक शिक्षक पत्र लेखन का काम करवा रहे हैं जिसमें किसी देखे हुए स्थान का वर्णन करना है। बच्चे इस तरह के वाक्य लिख रहे हैं– 'मैंने नर्मदा का सेठानी घाट देखा। यह बहुत सुन्दर है, यहाँ बहुत-से मन्दिर हैं। यहाँ बहुत-से लोग आते हैं।' शिक्षक बच्चे से बात करते हैं कि 'बहुत सुन्दर' का क्या मतलब निकालें। कोई मन्दिर दूसरे मन्दिर से कैसे अलग है। वे कहते हैं– क्या ख़ास है उस जगह में। उसको बताने के लिए हमें उस स्थान को ध्यान से ठहरकर

देखना होगा। घाट पर आने वाले लोग किस तरह के हैं। किसी एक व्यक्ति को देखना कि वह घाट पर आकर क्या करता है, कितनी देर वहाँ रहता है। नदी को देखना, कैसी दिखती है नदी, क्या नदी की कोई आवाज़ है।

फिर शिक्षक को सूझता है कि आज हम सब एक-एक पेड़ को देखेंगे। और अपने-अपने पेड़ के बारे में बताएँगे। आप अपने पेड़ के बारे में इतना ज़्यादा देखें कि उस पेड़ के बारे हमें सब कुछ बता पाएँ। हम आपके पेड़ को देखने के लिए उत्सुक हो जाएँ और शायद हम बता दें कि तुम कौन-से पेड़ की बात कर रहे हो। बच्चों ने अपने पेड़ पर चलने वाली चींटी से लेकर उसपर बैठे पक्षी और पत्ते की बनावट आदि की तरफ़ अपना ध्यान लगाया।

अगर बच्चों को थोड़ी स्वतंत्रता है और उन्हें पढ़कर ख़ुद अर्थ बनाने के मौक़े दिए जाएँ तो फिर जो लिखा है उसपर सवाल भी उठने लगते हैं। डॉ परशुराम शुक्ल की कहानी 'वसीयतनामे का रहस्य' पढ़ते हुए मेरी कक्षा के बच्चों ने कई सवाल उठाए। इस कहानी में एक वाक्य है– "वृद्ध किसान के चार बेटे व एक अत्यन्त रूपवती कन्या थी"। नंदनी ने पूछा कि लेखक ने लड़कों को रूपवान क्यों नहीं लिखा या चार बेटे और एक कन्या थी, ऐसा लिख सकते थे। मैंने कहा– हाँ, ऐसा लिखा जाना चाहिए। पर हो सकता है यह कहना आगे शायद कहानी की ज़रूरत हो इस शब्द की। कहानी आगे बढ़ जाती है। किसान, जो कि बहुत बुद्धिमान, दूरदर्शी व न्यायप्रिय था, अपनी जायदाद तीन हिस्सों में बाँटने की वसीयत करके मर जाता है। आगे कहानी में चारों भाई अपनी बहन के साथ वसीयत का झगड़ा निपटाने एक महाराजा के महल में पहुँचते हैं। महाराजा की दृष्टि उस युवती पर पड़ी जो चारों भाइयों के साथ आई थी। महाराजा को युवती बड़ी अच्छी लगी। यह लाइन भी लड़कियों को खटकी। आगे महाराजा ने वसीयत का फ़ैसला किया। एक भाई को जेल में डाला गया (क्योंकि वह महाराजा के बताए हुए प्रलोभन में आ जाता है) बाक़ी तीन भाइयों में सम्पत्ति बाँट दी गई। और उस कन्या से महाराजा ने विवाह रचा लिया। इस कहानी पर ख़ूब बातचीत हुई। जिस महाराज को लेखक एक न्यायकर्ता के रूप में पेश कर रहे थे बच्चों ने उसे एक लम्पट व्यक्ति की तरह समझा। उन भाइयों की बहन से महाराजा का शादी कर लेना बहुत-से बच्चों को ठीक नहीं लगा। लड़की को वह महाराज पसन्द है, वह उससे शादी करना चाहती है या नहीं, यह उस लड़की से पूछा जाना चाहिए था। भाइयों को प्रलोभन देकर दूसरे को मारने के लिए कहना बच्चों को पसन्द नहीं आया। इस तरह ख़ूब सारी बातचीत हुई। इस कहानी के लेखक ने कभी अपनी कहानी की इस तरह की आलोचना शायद नहीं सुनी होगी।

अन्त में

मैं यह कहना चाहता हूँ कि स्कूल ही शायद वो जगह बन सकते हैं जहाँ बच्चों की भावनाओं और संवेदनाओं को, जो कि मुझे लगता है बच्चे में जन्मजात होती हैं, पोषित किया जा सकता है। ये संवेदनाएँ, भावनाएँ बच्चे के पास भाषा का इस्तेमाल सीखने के बाद भी बची रहें और वह इनकी यथेष्ठ अभिव्यक्ति शब्दों के ज़रिए भी कर पाए। स्कूल और कक्षा ऐसी जगह बन सकते हैं और बननी चाहिए जो बच्चों को ऐसे तैयार करें कि वे ऐसे शब्दों को सुनकर उन भावों को महसूस कर पाएँ जो परस्पर सम्मान, हमदर्दी और सहअस्तित्व की पहचान से उभरते हैं और व्यक्तिगत स्पर्धा और ख़ुद की श्रेष्ठता की चाहत से कमज़ोर होते हैं।

मुकेश मालवीय पिछले दो दशक से भी ज़्यादा समय से स्रोत शिक्षक के रूप में सरकारी और ग़ैर-सरकारी भूमिकाओं में सक्रिय हैं। कक्षा अनुभवों को लेकर सतत लिखते रहते हैं। वर्तमान में अनुसूचित जाति विकास विभाग के शासकीय आवासीय ज्ञानोदय विद्यालय, होशंगाबाद (मध्यप्रदेश) में शिक्षक पद पर कार्यरत हैं।
सम्पर्क : mukeshmalviya15@gmail.com

हाथी क्यों छम्मक छम्मक नहीं चलता ?

भाषा शिक्षण की कुछ रोचक गतिविधियाँ

इति शर्मा

साक्षरता सर्वेक्षणों के परिणामों का हवाला देते हुए अकसर यही चिन्ता गहराई रहती है कि अमुक कक्षा के बच्चे अमुक कक्षा की पाठ्यपुस्तक का पाठ नहीं पढ़ पाते या सही-सही अपना नाम अथवा एक पंक्ति भी नहीं लिख पाते। इस समस्या की जड़ें साक्षरता सर्वेक्षणों के तरीक़ों और उनके नतीजों के विश्लेषण में जितनी हैं उतनी ही कक्षा-कक्ष प्रक्रियाओं में भी हैं। प्राथमिक कक्षाओं में भाषा शिक्षण के लिए जिस दृष्टिकोण, उदारता और योजना की ज़रूरत है उसपर यह आलेख प्रत्यक्ष अनुभवों के हवाले से बात करता है। प्रस्तुत आलेख में लेखिका ने भाषा शिक्षण के लिए गतिविधियों की ज़रूरत और उनके असर पर एक व्यावहारिक नज़रिये से विस्तृत चर्चा की है। सं.

शिक्षा के क्षेत्र में काम करने वाले पाठकों के लिए अपने आसपास कक्षा एक और दो के बच्चों को पढ़ना-लिखना सीखने के नाम पर अक्षर, ध्वनि, अक्षर की बनावट, वर्णमाला को क्रम से बोल पाना और किसी अक्षर से शुरू होते एक-एक शब्द को अच्छी तरह से रटते देखने का अनुभव शायद नया नहीं होगा। मेरे अनुभव में शिक्षकों के साथ कार्यशाला, स्कूल अवलोकन और बच्चों के साथ सीखने-सिखाने के कार्य शामिल हैं, जिनसे मेरी यह समझ बनी कि ज़्यादातर बच्चों के घरों में पर्याप्त भाषाई अनावरण नहीं होता है।

भाषाई अनावरण से हम यह समझ सकते हैं कि बच्चों का किताबों से पहले से जुड़ाव नहीं होता है और अन्य लिखित सामग्री जैसे– अख़बार, पत्रिकाएँ, साइन बोर्ड, विज्ञापन आदि से जुड़ाव भी बहुत कम होता है जो कि उनके सीखने के लिए काफ़ी नहीं होता है। ऐसी परिस्थिति से जब बच्चे स्कूल में प्रवेश करते हैं तो उन्हें वहाँ भी वैसी ही परिस्थितियाँ मिलती हैं। उदाहरण के लिए, जिस लक्षित भाषा को उन्हें सीखना है उस भाषा से सम्बन्धित लिखित सामग्रियाँ कक्षा में होनी चाहिए जिनसे वे आसानी से सीख सकें। लिखित सामग्रियाँ भी ऐसी होनी चाहिए जो कि उनके परिवेश से जुड़ी हुई हों। इसके अलावा अगर कक्षा में चित्र-चार्ट हो तो उसके आधार पर शिक्षक को बच्चों से बातचीत करने के अवसर मिलते हैं और यह शिक्षक के लिए बच्चों के पूर्व ज्ञान का अनुमान लगाने में भी मददगार होता है। अगर कक्षा में उपर्युक्त सामग्रियों का अभाव हो तब बच्चों के सीख पाने में कठिनाई हो सकती है।

अपने कक्षा अवलोकन और कक्षा में अभ्यास से मैंने यह पाया कि बच्चों को भाषा कभी भी एकाकी तौर-तरीक़े से नहीं सिखाई जा सकती। बग़ैर सन्दर्भ के भाषा सीखना बहुत ही कठिन है और सन्दर्भ इस प्रकार के होने चाहिए जो बच्चों के आसपास की दुनिया की चीज़ों वाले हों ताकि बच्चे ख़ुद को उससे जुड़ा हुआ महसूस कर सकें।

एनसीएफ़ 2005 भी इस बात का अनुगमन करता है कि बच्चा अपनी मातृभाषा पूरे सन्दर्भ में सीखता है और छः साल का होने तक बच्चा अपने रोज़ के व्यवहार में उसका पूर्ण उपयोग करने में भी सक्षम हो जाता है (राष्ट्रीय पाठ्यचर्या

की रूपरेखा 2005, पृष्ठ क्रमांक 61)। इस वजह से यह आवश्यक है कि भाषा शिक्षण के लिए समृद्ध अर्थपूर्ण सामग्रियाँ होनी चाहिए और ऐसा माहौल होना चाहिए जिसमें बच्चे की भाषा (मातृभाषा) का उपयोग हो।

अपने कक्षा अभ्यासों में भी मैंने यह महसूस किया। बच्चों के साथ चित्र-कहानी गतिविधि पर काम करते वक़्त पहले तो बच्चों से चित्र पर ख़ूब बातचीत की साथ-साथ उन्हें ज़्यादा-से-ज़्यादा बोलने का और अपनी बात को कहने का मौक़ा दिया। बातचीत के दौरान बच्चे हिन्दी में रुक-रुक कर कह रहे थे, पर जब उन्हें अपनी मातृभाषा छत्तीसगढ़ी में बोलने का अवसर दिया गया तो वह अपने मन की बात को धारा प्रवाह तरीक़े से साझा कर पा रहे थे। जो शिक्षक बच्चों की भाषा की महत्ता को नहीं समझते, वह इस प्रक्रिया में बच्चे के पहले रुक-रुक कर हिन्दी भाषा के प्रयोग करने के आधार पर यह तय कर लेते हैं कि बच्चा अपने मन की बात कहने या अभिव्यक्ति कर पाने में अभी सक्षम नहीं हुआ है और वह बच्चे को उसी वक़्त रोक देते हैं और बच्चे को अपना निर्णय तुरन्त सुना देते हैं कि वह सही तरीक़े से अपनी बात कह नहीं पाता या उसे बोलना नहीं आता है।

> जो शिक्षक बच्चों की भाषा की महत्ता को नहीं समझते, वह इस प्रक्रिया में बच्चे के पहले रुक–रुक कर हिन्दी भाषा के प्रयोग करने के आधार पर यह तय कर लेते हैं कि बच्चा अपने मन की बात कहने या अभिव्यक्ति कर पाने में अभी सक्षम नहीं हुआ है और वह बच्चे को उसी वक़्त रोक देते हैं और बच्चे को अपना निर्णय तुरन्त सुना देते हैं कि वह सही तरीक़े से अपनी बात कह नहीं पाता।

ऐसा करके शिक्षक बच्चे की भाषा का तो तिरस्कार करते ही हैं साथ ही उसे सीखने से भी रोक देते हैं। बच्चे के मन में यह बात घर कर जाती है कि वह लक्षित भाषा में / स्कूल की भाषा में अगर धारा प्रवाह तरीक़े से नहीं कह पाता तो इसका मतलब यह हुआ कि वह अपनी बात अच्छे-से नहीं कह सकता है, तिरस्कार के भय से वह प्रयास भी नहीं करता और धीरे-धीरे उसकी रुचि ही समाप्त हो जाती है।

पहली बात यह कि शिक्षकों को बच्चों की भाषा को महत्त्वपूर्ण समझना चाहिए क्योंकि यही वह भाषा है जिससे उन्होंने अपने आसपास की दुनिया को समझा है और जाना-पहचाना है और यदि शिक्षक बच्चों की भाषा को नकारते हैं तो वह उनके समझ के आधार को भी नकारते हैं जो उन्हें भाषा सीखने में कठिनाई महसूस करा देता है।

दूसरी बात यह कि समझकर पढ़ पाने में अन्दाज़ा लगाकर पढ़ पाने की महत्त्वपूर्ण भूमिका होती है। जो कुशल पाठक होते हैं वह मात्राओं की ग़लतियों को अकसर नज़रअन्दाज़ करके ही पढ़ते हैं। अगर आप ख़ुद पर ग़ौर करें तो यह पाएँगे कि आप स्वयं भी पढ़ते हुए कई बार अक्षरों व मात्राओं की बहुत छोटी ग़लतियों को नज़रअन्दाज़ कर जाएँगे। जब हम अक्षरों और मात्राओं पर ध्यान लगाकर पढ़ते हैं तो हमें लिखे हुए में ये सब ग़लतियाँ पकड़ में आने लगती हैं।

उदाहरण : ‘‘पुरा देश इस वक़्त अपना टैक्स बचाने में जूठा है’’

उपर्युक्त वाक्य को पढ़ते हुए कुशल पाठक यह समझ जाएँगे कि वाक्य का अर्थ क्या है, और हिज्जे करके पढ़ने वाले पाठक को इस वाक्य के अर्थ को समझने में कठिनाई महसूस हो सकती है।

इसका मतलब यही हुआ कि धारा प्रवाह पढ़ने में दृश्य-प्रतीकों के उच्चारण से ज़्यादा उस पूरे सन्दर्भ में बन रहे अर्थ की भूमिका होती है। अतः आवश्यक हो जाता है कि भाषा शिक्षण के कालांश में बच्चों के साथ किन्हीं

ख़ास शब्दों-अक्षरों के पठन-लेखन के साथ-साथ ऐसी गतिविधियाँ भी हों जिनसे बच्चों का भाषा के लिखित व मौखिक स्वरूप के विविध रूपों से आमना-सामना हो। उन्हें अन्दाज़ा लगाकर पढ़ पाने के ज़्यादा-से-ज़्यादा अर्थपूर्ण मौक़े मिलें।[1]

तो इस समझ के आधार पर बच्चों के साथ भाषा सीखने-सिखाने को लेकर की जाने वाली कुछ गतिविधियों को आगे बताया जा रहा है, पर उससे पहले आइए समझें कि गतिविधियों से हम क्या समझते हैं और गतिविधियों के लिए कक्षा में कैसा वातावरण होना चाहिए।

गतिविधियों से अभिप्राय :

ऐसे क्रियाकलाप जो बच्चों के सीखने-सिखाने की प्रक्रिया से सीधा सम्बन्ध रखते हैं और उनके सीखने की प्रक्रिया को सरल, सुगम, सहज, रोचक एवं मनोरंजक बनाते हैं। ये भाषा शिक्षण के सन्दर्भ में बच्चों के भाषाई कौशलों का भी विकास करते हैं, जैसे– अनुमान लगाकर बोलना, तुलना करना, वस्तुओं के बीच सम्बन्ध स्थापित करना, विश्लेषण करना, सोचना, कल्पना करना, सुनना, बोलना, पढ़ना, लिखना आदि।

गतिविधियों के लिए वातावरण :

कक्षा में गतिविधि कराने के पूर्व बच्चों से बातचीत तो करना ही चाहिए ताकि गतिविधि की प्रक्रिया को समझ जाने के बाद वे उस गतिविधि में अपनी सक्रिय भागीदारी निभा सकें। इसके साथ-ही-साथ शिक्षक को भी अपनी कक्षा के बच्चों की विविध रुचियाँ, कार्य करने की गति, गतिविधि का क्रम और उसके लिए उचित मात्रा में ज़रूरी सामग्री की योजना पहले से ही ऐसी बना लेनी चाहिए जिसमें सीखने के सभी विकल्पों का स्थान हो और कक्षा में सभी बच्चों को गतिविधि में भाग लेने और अभिव्यक्ति के समान अवसर मिलें।

उदाहरण :

- मैंने कक्षा एक और दो के बच्चों के साथ 'रोल प्ले' की गतिविधि कराई। इसका उद्देश्य था कि बच्चे कहानी के पात्रों से अपने-आप को जोड़ पाएँ, नाटक का अभिनय करते हुए बातचीत करें और ज़रूरत पड़ने पर कहानी में अपनी इच्छानुसार परिवर्तन करें और कहानी का आनन्द उठा पाएँ।

- रोल प्ले से पूर्व बच्चों को मैंने कहानी सुनाई और कहानी का दृश्यों में बँटवारा किया और बच्चों को अपने पात्र चुनने की और अपनी भाषा में संवाद करने की स्वतंत्रता दी। पात्र का आपस में निर्धारण करते समय कुछ बच्चे कुछ भी बोलने और करने के इच्छुक नहीं थे तो मैंने उन्हें पेड़ बनने अथवा पत्थर बनने का विकल्प दिया जो अपनी जगह अपनी मर्ज़ी से बदल सकता है। रोल के दौरान वह बच्चे जो

चित्र : हीरा धुर्वे

पेड़ और पत्थर बने थे, वह भी आपस में हँसते हुए बात कर रहे थे कि "अब मैं पत्थर बनूँगी। जब शेर आएगा टकरा के गिर जाएगा"।

- इस गतिविधि में बच्चों ने अपने मन से पात्र भी चुने। उन्हें कुछ कहने या करने के लिए स्वतंत्रता भी दी गई। अपनी इच्छानुसार उन्होंने कहानी में परिवर्तन भी किया, और भाषा के उद्देश्यों की भी पूर्ति हुई।

गतिविधियाँ क्यों, क्या और कैसे ?

गतिविधि क्यों?	कौन-सी गतिविधियाँ और कैसे?	भाषा सीखने में किस प्रकार सहायक?
1. बच्चे भाषा में निहित ध्वनियों और शब्दों के साथ खेलने का आनन्द ले सकें।	1. कक्षा एक और दो के लिए सबसे पहली गतिविधि है बालगीत या कविताएँ। **कैसे** : गीत या कविता को लय के साथ गाना और शब्दों के साथ उचित क्रिया के इशारे करना। जैसे– 'चुन्नू-मुन्नू थे दो भाई' में दो शब्द के लिए दो उँगलियों को खोलना और बाक़ी सभी उँगलियों को मोड़े रखना।	1. बच्चे लक्षित भाषा में सुने गए बालगीत या कविता को अपने तरीक़े से गाएँगे, उसका आनन्द उठाएँगे, उसपर विचार करेंगे, शब्दों और इशारों से शब्द और वस्तु के बीच सम्बन्ध बनाएँगे और उस भाषा में उन्हें कहने-सुनने के अवसर मिलेंगे।
2. चित्र में क्रमवार सजाए चित्रों में घट रही अलग-अलग घटनाओं, गतिविधियों और पात्रों को एक सन्दर्भ या कहानी के सूत्र में देखकर समझें।	2. इसके बाद दूसरी महत्त्वपूर्ण गतिविधि है चित्र-चार्ट को देखकर अनुमान लगाना और कहानी बनाना। **कैसे** : बच्चे चित्र को देखकर अनुमान लगाकर पढ़ने का प्रयास करेंगे। अपनी कल्पना से चित्र के आधार पर कोई नई कहानी या कहानी के घटनाक्रम बनाएँगे जिससे कि उनकी कल्पनाशीलता का विकास होगा और वस्तु के साथ वाक्य / शब्दों के बीच सम्बन्ध स्थापित कर पाएँगे।	2. बच्चों को कहानी के साथ जुड़ने, कल्पना करने, अनुमान लगाने, तुलना करने, शब्दों को चित्र के साथ जोड़ने और कहानी के पात्रों के बारे में अपने अनुभवों को साझा करने का अवसर मिलता है।
3. बच्चों में पढ़ने का कौशल विकसित करने के लिए।	3. तीसरी गतिविधि है कविता में या कहानी में बार-बार दोहराए गए अक्षर व ध्वनि की पहचान और उस अक्षर से जुड़े बच्चों के पूर्व ज्ञान में मौजूद शब्द या दूसरे शब्दों की किताबों में और अपने आसपास के प्राकृतिक वातावरण में खोज। **कैसे** : 'काला कबूतर और काला कौवा दोनों नदी के किनारे कंकड़ चुनने गए' इस वाक्य में 'क' अक्षर की आवृत्ति बार-बार हो रही है। शिक्षक 'क' अक्षर से ही बच्चों को दूसरे शब्द बनाने के लिए कह सकते हैं या ऐसे वाक्य जिसमें 'क' से कोई शब्द आता हो।	3. शब्दों को पढ़ना सीखने के साथ-साथ बच्चे वाक्य की संरचना से भी मौखिक रूप से रूबरू हो पाएँगे। बच्चे अक्षरों और मात्राओं की पहचान कर सकेंगे। मेरे अनुभव से अक्षरों की पहचान के लिए यह सबसे उपयोगी गतिविधि है।

4. छोटे-छोटे शब्दों को पढ़ना और लिखे हुए शब्द को आसपास के परिवेश से जोड़ना और लिखना।	4. विषय / घटना / कहानी / कविता पर सवाल या बातचीत और उसको शब्दों में श्यामपट्ट या चार्ट में लिखना। **कैसे** : 'आज तुमने क्या खाया?' बच्चे के जवाब को पहले से चिपकाए गए कोरे चार्ट में अथवा दीवार में उसके नाम की जगह पर उसके जवाब को लिखना। इसी तरह से विविध त्योहारों पर बातचीत, बच्चे के किसी घटना से जुड़े अनुभव को सुनना और लिखना।	4. बच्चे इससे छोटे-छोटे शब्दों को और वाक्यों को अपने अनुभव से जोड़ पाएँगे और पढ़ने का अभ्यास करेंगे। जैसे– बच्चे आसपास के जानवर को उनके नाम (लिखित शब्द) से जोड़ पाएँगे और उन्हें ऐसे ही अपने आसपास की चीज़ों को जोड़ने का अवसर दिया जा सकता है।
5. सहपठन, समूह में कार्य करना सीखे, लड़की-लड़का में भेद न करे, और अपने सभी साथियों के साथ बैठना और कार्य करना सीखे।	5. जोड़ों में पढ़ने वाली गतिविधि **कैसे** : धीमी गति से सीखने वाले बच्चे को जल्दी सीखने वाले बच्चे के साथ बैठाया जा सकता है। ऐसा करने से जो बच्चा जल्दी सीख जाएगा वह अपने साथी की गतिविधि को समझने में मदद भी करेगा और दोनों का साथ-साथ सीखना होगा।	5. इससे जल्दी सीखने वाले बच्चे जो जल्दी से अपना कार्य कर लेते हैं, वह खाली नहीं बैठेंगे और धीमी गति से सीखने वाले बच्चे को भी मदद मिलेगी जिससे कि वह निर्देशों को और प्रक्रिया को 2 बार सुनेगा तो अच्छे-से समझेगा और उसकी गति में वृद्धि होगी।

उपर्युक्त सारिणी के पहले और तीसरे बिन्दु में सुझाई गई गतिविधि को मिलाकर मैंने कक्षा एक और दो के बच्चों के साथ काम किया है। यह अनुभव मैं आप सभी के साथ साझा करना चाहती हूँ।

- सबसे पहले मैंने एक चार्ट में 'धम्मक धम्मक आता हाथी' कविता को रंगीन और बड़े अक्षरों में कक्षा में श्यामपट्ट के बाजू से चिपका दिया। चार्ट चिपकाते वक़्त इस बात का विशेष ध्यान रखा कि बच्चे चार्ट को आसानी से छू और देख सकें।
- इसके पश्चात बच्चों के सामने उस कविता को लय में गाकर सुनाया और कविता में आने वाले शब्दों के उचित इशारों का प्रयोग किया। दूसरे दिन भी कविता को गाने के बाद मैंने बच्चों से आग्रह किया कि उनमें से कोई भी बच्चा हम सभी को वह कविता गाकर सुनाए और हम उनके साथ-साथ गाएँगे। बच्चों के कविता गाने के साथ-साथ मैंने एक दिन पहले चिपकाए चार्ट में उन शब्दों पर उँगलियाँ फेरीं जिन शब्दों को बच्चे उच्चारित करते थे।
- इसके बाद बच्चों से आग्रह किया कि उनमें से कोई भी चार्ट से पढ़कर अपने साथियों को कविता सुनाए। उसके बाद मैंने बच्चों से यह प्रश्न किया कि कविता में कौन-सा शब्द बार-बार आ रहा है, बच्चों ने उत्तर दिया, 'हाथी'। बच्चों ने सही कहा था। मैंने उन्हें ऐसे दूसरे शब्द खोजने को कहा जो बार-बार आ रहे हों। उसके जवाब में उन्होंने 'धम्मक धम्मक' कहा। अब मैंने उनसे यह प्रश्न किया कि ऐसा ही क्यूँ लिखा है 'धम्मक धम्मक' हाथी छम्मक छम्मक भी तो चल सकता है न! ये सुनते ही सभी बच्चे हँस पड़े।

- फिर मैंने उनसे पूछा कि छम्मक छम्मक किस चीज़ से आवाज़ आती है? बच्चों ने छत्तीसगढ़ी भाषा में जवाब दिया, 'पेरपट्टी' और लपककर तुरन्त एक बच्चे ने कक्षा की एक छात्रा, जो पायल पहनी थी, उसकी ओर इशारा करते हुए कहा, 'वह छम्मक छम्मक चलती है।'

- इस बात पर मैंने बच्चों को ध्यान देने को कहा कि क्योंकि कोई पेरपट्टी पहनती या पहनता है तो हम उसके लिए कह सकते हैं कि वह छम्मक छम्मक चलती या चलता है। फिर मैंने उनसे पूछा, 'अच्छा बताओ कि हाथी क्यों धम्मक धम्मक चलता है?' बच्चों के कोई जवाब नहीं आए।

- मैंने कक्षा में रखे एक खाली बस्ते को उठाया और लगभग एक मीटर ऊपर ले जाकर छोड़ दिया तो कोई आवाज़ नहीं आई। फिर मैंने 2-3 भरे बस्ते एक साथ पकड़कर फिर से प्रक्रिया दोहराई और साथ में 'धम्म' शब्द का उच्चारण किया। बच्चे यह समझ गए कि चूँकि हाथी भारी होता है इसलिए धम्मक धम्मक चलता है।

- इसके अगले दिन मैंने बच्चों के साथ फिर से कविता को गाया व फिर श्यामपट्ट पर धम्मक धम्मक और छम्मक छम्मक दोनों लिख दिए और बच्चों से पूछा कि इन दोनों शब्दों में कौन-सा अक्षर सामान्य है। बच्चों ने 'क' और 'म' अक्षरों की तरफ़ इशारा किया क्योंकि बच्चों ने अभी तक उस अक्षर को सिर्फ़ देखा था लेकिन वह उनकी ध्वनियों को चिह्न से जोड़ नहीं पाए थे।

- मैंने बच्चों से पूछा कि क्या वह कोई और शब्द बता सकते हैं जो 'म' से शुरू होता हो? बच्चे इसपर चुप थे। फिर मैंने यह सोचा कि ज़्यादातर बच्चों से जुड़ता हुआ एक शब्द ऐसा है जो 'म' से शुरू होता है, और वह शब्द है 'माँ'। मैंने श्यामपट्ट पर एक चित्र बनाया जिसमें एक स्त्री ने एक बच्चे को गोद में लिया है। बच्चों से मैंने जब पूछा कि क्या वह बता सकते हैं यह चित्र किसका है, तो उन्होंने कहा, 'लड़की'। मैंने फिर दूसरा सवाल पूछा कि वह हाथ में क्या पकड़ी है? उसपर बच्चों ने कहा, 'लड़की कीड़ा पकड़ी है'। फिर मुझे यह अहसास हुआ कि मैंने चित्र ठीक से नहीं बनाया था। उस चित्र में लड़की के हाथ में जो बच्चा था उसके हाथ और पैर मैंने नहीं बनाए थे। मैंने तुरन्त उसके हाथ-पैर बनाए और बच्चों ने तुरन्त जवाब दिया, 'माँ / मम्मी'।

- फिर मैंने बच्चों से कहा कि अब उनमें से कोई एक बच्चा चित्र बनाए और बाक़ी सब बच्चे उसकी पहचान करेंगे। लेकिन यह ध्यान में रहे कि वह शब्द जिसका चित्र वो बनाएँगे वह 'म' से ही हो। जो बच्चे चित्र न बना पाएँ, वह मेरे कान में उस शब्द को कहेंगे और मैं उस चित्र को बनाऊँगी। साथ-ही-साथ उन्हें उस शब्द का अभिनय करने का भी विकल्प दिया गया।

- इस प्रकार कक्षा एक और दो के बच्चे जो हिन्दी के अक्षरों की पहचान बिलकुल भी नहीं कर पाते थे वह 'म' अक्षर की उसकी ध्वनि के साथ पहचान कर पा रहे थे एवं अपने परिवेश से जुड़ते हुए शब्द भी बता पाए।
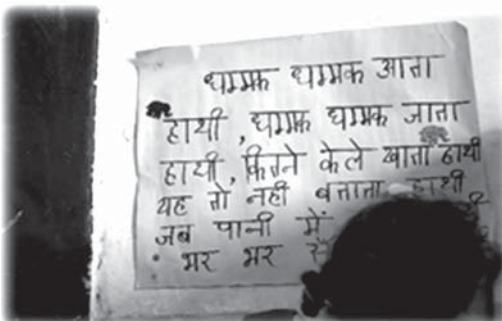
इसके अलावा भी कुछ अन्य गतिविधियाँ हैं जो सभी कक्षाओं के लिए उपयुक्त हैं जैसे– चित्र-लेखन, बहस, नाटक, चर्चा, भाषण, संगीत (पण्डवानी, भरथरी व अन्य लोक गीत), लोक नृत्य (राऊत नाचा, पंथी नृत्य)। यह गतिविधियाँ बच्चों को खुलकर हिस्सा लेने और अपने-आप को अभिव्यक्त करने का मौक़ा देती हैं। साथ ही ऐसे मौक़े बनाती हैं जिनमें हम बच्चों के आसपास परिवेश, परिवार, संस्कृति-परम्परा को आधार बनाकर कक्षा-कक्ष की प्रक्रियाओं को जीवन से जोड़ सकते हैं। बच्चे का आत्मविश्वास बढ़ा सकते हैं, जिसकी वकालत एनसीएफ़ भी पुरज़ोर तरीक़े से करता है।

सन्दर्भ :

1. दिलीप चुघ, 'कुछ और गतिविधियों से भाषा प्रशिक्षण', *शैक्षणिक संदर्भ,* अंक–18 (मूल अंक–75).

2. *राष्ट्रीय पाठ्यचर्या की रूपरेखा* 2005, पृष्ठ क्रमांक 61.

3. *'लिखने की शुरुआत एक संवाद',* अध्याय– 2 'बच्चों का चित्र लेखन' पृष्ठ क्रमांक 15 और अध्याय– 3 'कक्षा एक और दो में लेखन — एक दृष्टिकोण' पृष्ठ क्रमांक 24. (NCERT प्रकाशन)।

इति शर्मा पिछले छह साल से शिक्षण एवं प्रशिक्षण के क्षेत्र में कार्यरत हैं । आपने रायपुर इंस्टीट्यूट ऑफ़ टेक्नोलॉजी, छत्तीसगढ़ में तीन साल सहायक प्राध्यापक के रूप में कार्य किया है। शिक्षा के विषयों पर लिखती रहती हैं। साल 2018 से अज़ीम प्रेमजी फ़ाउण्डेशन में हिन्दी तथा अंग्रेज़ी की सन्दर्भ व्यक्ति के रूप में छत्तीसगढ़ के बलोदाबाज़ार ज़िले में कार्यरत हैं।

सम्पर्क : itee.sharma@azimpremjifoundation.org

एक रचनाशील शिक्षक की निर्मिति

शिक्षक मिहिर से निधि गुलाटी की बातचीत

शिक्षा हमें सक्षम और आत्मनिर्भर बनाती है, पर कभी-कभी शिक्षा का रूढ़ और परम्परागत ढाँचा किसी के लिए बाधा बन जाता है। ऐसे में व्यक्ति वैकल्पिक रास्तों से अपने सीखने के अवसर ख़ुद बनाता और तलाशता है। इस क्रम में वह शिक्षा के साथ-ही-साथ अपने जीवन, समाज और दूसरों के सीखने के महत्त्व को भी नए सिरे से पहचानता चलता है। ऐसे ही एक जुझारू, नवाचारी युवा मिहिर से निधि गुलाटी ने बातचीत कर उनकी ख़ुद से सीखने सम्बन्धी यात्रा की पड़ताल की है। सं.

मिहिर से पहली बार बातचीत करें तो उनके काम और विचारों की विस्तृतता आपको हैरान कर देती है। वे बहुत ही सरलता से, तकनीकी के इस्तेमाल, मानसिक उपकरणों, सृजनात्मक नाटकों का बच्चों के साथ प्रयोग और गहन दर्शनशास्त्र– इन सभी विषयों के बारे में अपनी समझ साझा करते हैं। मिहिर कभी वातावरण पर गीत गाने लगते हैं और ऐसा करते-करते कभी सामाजिक स्थितियों और कभी मानवीय परिस्थितियों पर सटीक सवाल पूछते हैं।

मुझे लगता है कि मिहिर एक तरह का आश्वासन खोज रहे होते हैं, जो स्थितियों और चीज़ों की अपरिचितता से आता है। एक तरह की समझ कि चीज़ें हमेशा उस तरह की नहीं होती हैं जैसा उन्हें होना चाहिए। यह भी कि जीवन एक तरह से न ख़त्म होने वाली सम्भावनाओं से परिपूर्ण है। उनमें एक खुलापन है, जो उन्हें परिस्थितियों और अनुभवों से प्रभावित होने देता है। साथ ही, आकांक्षाओं की निरर्थकता को समझ लेने से, वे उनसे मुक्त हो पाते हैं। इन आकांक्षाओं का सामना करना शायद काफ़ी मुश्किल काम है, क्योंकि ये सामाजिक सम्बन्धों और संस्थानों से बँधी रहती हैं। वैसे भी कि एक तय रास्ते पर चलने से ज़िन्दगी के काफ़ी झमेलों से छुटकारा तो मिल ही जाता है।

आज के ग्रामीण सन्दर्भ में एक युवा शिक्षक होना कैसा होता है, इस बात से तो सिर्फ़ हम मिहिर के बारे में बातचीत की शुरुआत ही कर सकते हैं। दरअसल, उनसे बातचीत करने के पीछे मेरी मंशा कुछ गहरी है। पिछले काफ़ी सालों से मैं शिक्षक शिक्षा से जुड़ी हूँ। अपने विद्यार्थियों को मैंने शिक्षक शिक्षा के कार्यक्रम में धीरे-धीरे बदलते और समझ बनाते देखा है, मानो एक प्याज़ का छिलका उतरता गया हो। कार्यक्रम के चार सालों में वे बच्चों के प्रति संवेदनशील होते चले जाते हैं, और उन्हें बच्चों की बातों में गहरी दिलचस्पी होने लगती है। वे बच्चों की बात को सुनने लगते हैं, अपने सामाजिक सन्दर्भ को समझने लगते हैं, और सामाजिक राजनीति में भागीदारी करने लगते हैं।

अकसर मेरे जैसे शिक्षक प्रशिक्षकों को यह दुविधा रहती है कि एक शिक्षक की रचना कैसे होती है? शोधों में भी इस विषय पर कई बार सवाल उठाए गए हैं। क्या बच्चों में दिलचस्पी लेना, पढ़ाने का शौक़ होना, चिन्तन-मनन करना कुछ व्यक्तियों के स्वभाव में ही होता है? या फिर यह क्षमताएँ प्रशिक्षण से विकसित की जा

सकती हैं? क्या बिना पेशेवर प्रशिक्षण के भी एक सृजनशील, मननशील शिक्षक बन सकते हैं? किसी एक विषयवस्तु के व्यवस्थित शिक्षण-प्रशिक्षण के बिना, क्या सोच और समझ के दायरे विस्तृत हो पाते हैं या और भी संकुचित हो जाते हैं? इन सवालों के कोई सटीक जवाब नहीं हैं। मिहिर अब समाजशास्त्र में स्नातकोत्तर हो गए हैं। उनका उद्देश्य बच्चों और वयस्कों का एक ऐसा समुदाय बनाने का है, जहाँ सब अपने बारे में और दुनिया से अपने रिश्ते के बारे में समझ बनाने की कोशिश कर पाएँ।

सवाल : अपने बारे में कुछ बताएँ ?

मिहिर : मैं गुजरात के पदरा से हूँ। पदरा एक छोटा कस्बा है। मैं स्कूल में अपना मन लगा ही नहीं पाया। मुझे लगता था कि सीखने के और भी बेहतर तरीक़े हो सकते हैं। दसवीं कक्षा के बाद ही मैंने देशभर में फैले अलग-अलग वैकल्पिक शिक्षा के संस्थानों में काम करना शुरू कर दिया। दसवीं के इम्तिहान के बाद मैं वड़ोदरा गया और सोचा कि प्रोग्रामिंग सीखूँगा। यह सीखने की फ़ीस 60,000 रुपए थी, जो मेरे पास नहीं थे।

इसी दौरान एक कम्पनी ने कहा कि आप हमारे लिए मार्केटिंग कीजिए और हम आपको 10% कमीशन देंगे और आपको एक डेवलपर के साथ सीखने का मौक़ा भी देंगे। इस तरह मैंने डिवेलपिंग का काम सीखा, और वेबसाइट बनाना शुरू कर दिया। फिर मैंने पिताजी के कहने पर ग्यारहवीं में प्रवेश लिया और उन्हीं के कहने पर विज्ञान विषय लिया जीव विज्ञान के साथ। मैं हफ़्ते में एक दिन स्कूल जाता था और बाक़ी समय ऑफ़िस का काम करता था। इसी दौरान मैंने e–learning का सॉफ़्टवेयर बनाया– Learnapt.com जिसमें कला (Art), शिक्षाशास्त्र (Pedagogy) और तकनीकी का समागम था। एनसीईआरटी के छठी कक्षा से दसवीं कक्षा तक के सभी विषयों को समझने-सीखने की सामग्री हमने एकत्रित की। विज्ञान में गीत, कहानियाँ, बाहर और अन्दर खेलने वाले खेल, प्रयोग, प्रयोगशाला, मैदान में की जाने वाली गतिविधियाँ, चर्चा और विमर्श के मुद्दे, तरह-तरह की शिक्षण सामग्री एकत्रित कर इस वेबसाइट पर उपलब्ध कराई। इसके साथ बहुविकल्पी बौद्धिक क्षमताओं के आधार पर एक परीक्षण भी बनाया।

बच्चों के साथ काम करने का यह मेरा पहला अनुभव था। फिर हम पदरा और उसके आसपास के गाँवों के बच्चों के लिए अरविंद गुप्ता के खिलौनों की कार्यशालाएँ करने लगे। मैं पैसे भी कमाने लगा था। कमाए हुए पैसे का इस्तेमाल मैं विभिन्न संस्थानों में जाने के लिए करता। किताबें ख़रीदने लगा। अलग-अलग प्रोजेक्ट्स करने लगा। नए-नए विचार मेरे दिमाग़ में आते और मैं उनपर काम करता। जैसे– मैंने बच्चों के सवालों के लिए एक हेल्प लाइन भी बनाई, जिसका नाम था– 'मुझसे कुछ भी पूछो'। मैं तो अपने स्कूल में प्रश्न नहीं पूछ पाता था। इसलिए इस सुविधा को मैं बच्चों के लिए उपलब्ध कराना चाहता था। बच्चे बहुत-से लाजवाब सवाल पूछते थे। जैसे एक सवाल जो मुझे याद है– एक बच्चे ने एक बार पूछा कि जब काग़ज़ जलाते हैं तो उसमें आग कैसे लगती है? क्या बदलाव आते हैं जिससे वह आग पकड़ लेता है? बतौर शिक्षक मैं प्रश्नों और परोक्ष संकेतों द्वारा बच्चों को सोचने और शोध के और मौक़े देता, और बच्चे बहुत-से मज़ेदार उत्तर ढूँढ़कर लाते।

इसी दौरान मुझे मुनि सेवा आश्रम में वॉलेंटियरशिप करने का मौक़ा मिला। वहाँ बायोगैस बॉटलिंग प्लांट, सौर ऊर्जा पर चलता वातानुकूलन, नर्सिंग विद्यालय, सौर ऊष्मा (सोलर थर्मल) तकनीकी आदि सभी काम होते थे। मुझे वहाँ अच्छा लगा तो मैं रोज़ वहीं जाने लगा। तभी बारहवीं कक्षा का नतीजा आया और मैं लगभग सभी विषयों में फ़ेल हो गया। घर पर बहुत डाँट पड़ी, फिर मुझे दसवीं कक्षा के आधार पर मैकेनिकल डिप्लोमा कोर्स में भर्ती करवा दिया गया। दो साल तक परिवार के लोग मुझे नज़र क़ैद रखना चाहते थे, जिससे मैं कम-से-कम डिप्लोमा तो ख़त्म कर लूँ। इससे

मुझे अवसाद हो गया। अन्ततः परिवार वालों का हृदय परिवर्तन हुआ। उन्होंने मुझे संस्था में काम करने की अनुमति दे दी, और पैसे भी। ये ज़रूर कहा कि मैं कोई कम्प्यूटर का कोर्स कर लूँ।

मेरा अगला प्रोजेक्ट था, मेकर (रचनाकार) प्रयोगशाला। इस प्रयोगशाला में हम अनौपचारिक माहौल में असल ज़िन्दगी की परेशानियों के हल ढूँढ़ते थे। इसमें हम विज्ञान, तकनीकी, गणित और सामाजिक विज्ञान को भी समझते थे। जैसे– हॉस्टल में जिन जगहों पर बिजली नहीं रहती, उस जगह के लिए बच्चों ने मिलकर एक टॉर्च बनाई। चुम्बक के प्रयोग से चूहे बिल्ली का खेल बनाया। मौसम का एक स्टेशन भी बनाया।

साथ ही मैंने *समर हिल, तोत्तो-चान* और *दिवास्वप्न, स्कूल में आज तुमने भला क्या पूछा?* जैसी किताबें भी पढ़ीं। इसी दौरान मेरी पहचान एक ऐसे व्यक्ति से हुई जो एक प्राथमिक विद्यालय की समिति के सदस्य थे। उन्होंने मुझे अपने विद्यालय में बच्चों के साथ अलग-अलग शिक्षण विधियों का प्रयोग करने की अनुमति दी। यहाँ काफ़ी बच्चे किसान परिवारों से थे, हमने वर्मी कम्पोस्ट बनाने का काम शुरू किया। तैयार वर्मी कम्पोस्ट को हम बेचने भी लगे। इससे हुई आय से हमारी प्रयोगशाला का ख़र्चा निकलने लगा, और काफ़ी आत्मनिर्भरता आ गई।

इस दौरान मुझे अलग-अलग स्कूलों में, जहाँ वैकल्पिक शिक्षा के माध्यम से पढ़ाया जाता था, जाने का मौक़ा मिला। वहाँ सूक्ष्म अवलोकन और चर्चाओं से मेरे विचार और समझ बदलने लगी। शिक्षा के मूल उद्देश्य क्या हैं और देश के अलग-अलग कोनों में इन उद्देश्यों को कैसे क्रियान्वित किया गया है, यह देखने-समझने का मौक़ा मुझे मिला।

सवाल : आप जिस स्कूल के साथ जुड़े हैं, उसकी व्यवस्था कैसी है?

मिहिर : मैं अभी भुज में स्थित 'शिशुकुंज' नाम के विद्यालय में काम कर रहा हूँ। स्कूल के काम के उपरान्त मैं अन्य स्कूलों में शिक्षक, बच्चों और कभी-कभी अभिभावकों के साथ विविध विषयों पर कार्यशाला करता रहता हूँ।

मैं जिस स्कूल से जुड़ा हूँ वहाँ मुख्याध्यापक और शिक्षक समान्तर स्तर पर हैं। स्कूल प्रबन्धन की कोशिश रहती है कि शिक्षक ही स्कूल चलाएँ। वे शिक्षकों को स्वतंत्रता देना चाहते हैं। स्कूल केन्द्रीय माध्यमिक शिक्षा परिषद से जुड़ा है इसलिए हमें पाठ्यक्रम पूरा करना पड़ता है। पर हमें शिक्षण पद्धतियों को चुनने की पूरी स्वतंत्रता है।

सवाल : पिछले कुछ सालों में आपके द्वारा किए गए सफल हुए कुछ प्रयोग के बारे में बताएँ?

मिहिर : मैं धर्मपुर में कक्षा एक के बच्चों के साथ काम करता था। वहाँ पर सम्पूर्ण भाषा पद्धति पर एक कार्यक्रम किया जो दो साल चला। यहाँ के बच्चे 'कुकना' नाम की बोली बोलते हैं, जो मराठी से काफ़ी मिलती जुलती है और पढ़ाई गुजराती में होती है। गुजराती उनके लिए एक विदेशी भाषा के समान है।

उनकी बोली को स्वीकार करते हुए, गुजराती के मूलाक्षर और व्याकरण पर ज़्यादा ज़ोर दिए बिना मैंने, मज़ेदार तरीक़े से गुजराती कैसे सीख सकते हैं, इसपर काम किया और सम्पूर्ण भाषा पद्धति के सभी मानकों को ध्यान में रखते हुए बच्चों को पढ़ना-लिखना सिखाया और उसमें काफ़ी हद तक सफल रहा। इसमें कुछ ऐसे काम शामिल थे : कोई कहानी सुनाई, उसका नाटक किया और फिर उसमें उपयोग किए गए शब्दों को फ़्लैश कार्ड की मदद से पढ़ना सीखा। बच्चे शब्दों से परिचित हैं। ये शब्द उनके लिए अर्थपूर्ण हैं इसीलिए वो उसे चित्र की तरह याद रख लेते हैं, आगे इसी तरह वाक्य पढ़ना सीखते हैं। आगे इन शब्दों को तोड़कर मूलाक्षर भी सिखाए जाते हैं। अपने आसपास से कुछ शब्द चुनकर उन्हें ऐसे इस्तेमाल करना कि मुहावरा बन जाए। उदाहरण के तौर पर, 'यहाँ मैस में अण्डे उबल रहे हैं और वहाँ शिक्षक

महोदय उबल रहे हैं’। सरल शब्दों में कहें तो सम्पूर्ण भाषा पद्धति के समर्थक यह मानते हैं कि भाषा को अक्षरों और उनके सम्मिश्रण में नहीं बाँटा जाना चाहिए, और न ही डीकोड करना चाहिए। मिहिर मानते हैं कि भाषा अर्थ बनाने की एक जटिल व्यवस्था है, जहाँ शब्द दूसरे शब्दों के साथ मिलकर एक सन्दर्भ में अर्थ बनाते हैं। भाषा सीखने की इस पद्धति से जैसे मेरी कक्षा के बच्चे सीख पाए, उससे मैं सन्तुष्ट हूँ।

सवाल : आपने बताया कि आप कक्षा एक से चार के शिक्षक हैं। इस साल आप पढ़ाने के और क्या नए प्रयोग कर रहे हैं ?

मिहिर : मैं अभी कक्षा एक से चार में गणित के मुख्य शिक्षक के साथ कक्षा की योजना बनाने में मदद करता हूँ। कक्षा एक में हिन्दी में कहानियाँ सुनाता हूँ और नाटक करवाता हूँ, और कक्षा तीन में गुजराती पढ़ाता हूँ। मैं कक्षा 5 से 9 में कम्प्यूटर सिखाता हूँ जिसमें प्रोग्रामिंग, एनिमेशन बनाना शामिल है। एक और साथी शिक्षक के साथ मैं कक्षा 5 से 9 में इको बडी क्लब चलाता हूँ, जहाँ हम प्रकृति में सैर, सफ़ाई अभियान, प्लास्टिक का पुन: इस्तेमाल और गत्ते से फ़र्नीचर बनाने का काम करते हैं। हमने अपने आसपास के बग़ीचों में पुस्तकालय भी शुरू किए हैं। हर रविवार हम थैला भरकर किताबें ले जाते हैं। बच्चे अपनी उम्र और रुचि के अनुसार रंगीन किताबें पढ़ते हैं और कहानियाँ सुनते हैं।

सवाल : इको बडी क्लब के बारे में और बताएँ।

मिहिर : इको बडी क्लब का मुख्य प्रयास है कि प्रकृति के साथ बच्चों का एक घनिष्ठ रिश्ता बन पाए। मेरे साथ इस क्लब में एक साथी शिक्षक हैं ऋतविद भाई– जो पहले विदेश में मोटर इंजीनियर का काम करते थे। इको बडी क्लब में हम अलग-अलग गतिविधियाँ करते हैं। इनमें से एक है– प्रकृति की सैर, जिसका विषय हम बदलते रहते हैं। कभी बिलकुल शान्त सैर, कभी खुले पैर सैर, कभी केवल पत्तियों पर ध्यान रखना, या कभी यह ध्यान देना कि हमारे आसपास ‘जीवन’ कहाँ-कहाँ और किस-किस रूप में है। इस समय हम बच्चों को तस्वीरें लेने को भी कहते हैं। सैर के दौरान या उसके तुरन्त बाद यह भी चर्चा करते हैं कि कौन-कौन से पेड़-पौधे यहाँ उगते हैं और कौन-से जानवर यहाँ पाए जाते हैं। ये यहाँ ही क्यूँ पाए जाते हैं? इनका क्या उद्देश्य है? इन सबमें आपस में क्या सम्बन्ध है?

इस साल हमने बच्चों के साथ मिलकर किचन गार्डन भी शुरू किया है, जिसमें मूली, मेथी, पालक जैसे पौधे उगाए हैं। ऐसे पौधे जिनका सीधा उपयोग नाश्ते में हो सके। बच्चे किचन गार्डन में बीज डालने से लेकर कटाई की प्रक्रिया तक साथ रहते हैं। यह अनुभव बच्चों को ‘फ़ार्म टू प्लेट’ की यात्रा पर ले जाता है।

ऐसी यात्राओं में हम पर्यावरण को विविध दृष्टिकोणों से समझने की कोशिश करते हैं– पर्यावरण अर्थव्यवस्था से कैसे जुड़ा है, इंसानों पर कैसे प्रभाव डालता है, खाने-पीने से कैसे जुड़ा है? इस क्लब में हम अकसर रचनात्मक लेखन करते हैं, प्रकृति से जुड़े गीत गाते हैं और वृत्तचित्र भी देखते हैं, जिसमें अलग-अलग वस्तुओं की कहानी पर चर्चा करते हैं।

हम प्लास्टिक को पुनः इस्तेमाल करने की कोशिश भी करते हैं। बच्चे अपने घर से कुछ कुछ प्लास्टिक का सामान लाते हैं, जिससे हम नई वस्तुएँ बनाने की कोशिश करते हैं। पिछली बार हमने प्लास्टिक के छिलकों से बुकमार्क, बुक कवर और तकिए बनाए। बच्चे स्वयं ही नए-नए विचार सामने लाते हैं, जिनपर फिर हम आगे काम करते हैं। प्लास्टिक की खाली बोतलों से बोतल ईंटें बनाईं। प्लास्टिक की बनी बाल पेन जिसमें रीफ़िल नहीं डाल सकते उनका उपयोग करके चीज़ें बनाना। ऐसी काफ़ी सारी चीज़ें कचरे से बनाते हैं।

इसके अलावा हम और भी काम कर रहे हैं, जैसे– कैम्पस में बाग़ के लिए ड्रिप सिंचाई, पानी के कुल इस्तेमाल का हिसाब-किताब रखना,

पानी के कम इस्तेमाल के लिए रोज़ाना की आदतों को कैसे बदला जाए, पर्यटन का क्या स्वरूप हो सकता है? आदि।

भुज के आसपास ऐसी जगहें जो ज़्यादा जानी पहचानी न हों, वहाँ हम लोग साइकिल चलाकर पिकनिक मनाने जाते हैं, वहाँ की साफ़-सफ़ाई करते हैं। कुछ बच्चे लोकल कार पूलिंग एप डेवलप करने का, तो कई बच्चे इलेक्ट्रॉनिक स्कूटर बनाने का प्रयास कर रहे हैं। ऐसे मेल से पर्यावरण से दोस्ती होती ही है पर साथ ही, शिक्षक और विद्यार्थियों के बीच रिश्ता सुदृढ़ होता है। इको बडी क्लब में फ़िल्म बनाने की कार्यशालाएँ भी हमने स्कूलों में की हैं।

सवाल : **फ़िल्म वाली कक्षा में क्या-क्या होता है? इस कक्षा में बच्चों से आपको क्या प्रतिक्रियाएँ मिल रही हैं?**

मिहिर : फ़िल्म वाली कक्षा हमने स्कूल में शुरू की। हमने 5-6 लघु फ़िल्मों का चयन किया। और फ़िल्म के आसपास चर्चा, सवाल जवाब और रचनात्मक लेखन करने लगे। या फ़िल्म को बीच में ही रोककर, बच्चों से कहते हैं कि वे उसके एक नए अन्त की कल्पना करें और लिखें। इन फ़िल्मों में हम सिर्फ़ जानकारी के बारे में ही नहीं, बल्कि भावनात्मक पहलुओं पर भी बात करते हैं। सामाजिक बदलाव के बारे में सवाल भी पूछते हैं। हमारे विचारों और व्यवहार में छिपी रूढ़िवादी धारणाओं को भी कुरेदते हैं। उदाहरण के लिए, सत्यजीत रे की लघु फ़िल्म टू देखकर हमने अमीरी और ग़रीबी पर चर्चा की, साथ ही यह भी कि जब बच्चे एक दूसरे पर धौंस दिखाते हैं (बुली करते हैं) तो कैसा महसूस होता है? जैसे– लघु फ़िल्म को देखकर जेंडर रोल के बारे में भी चर्चा की कि 'क्यों आज भी यही अपेक्षा रहती है, क्यों लड़कियाँ ही घर का काम करती हैं?' कुछ इस तरह की फ़िल्में भी देखीं जिनमें पुरुष घर के काम करते हैं।

सवाल : **आपको बच्चों के साथ काम करने में फ़िल्में ज़रूरी क्यों लगती हैं?**

मिहिर : दरअसल, फ़िल्में ज़िन्दगी और समग्रता से परिपूर्ण होती हैं। हम फ़िल्म के एक ही टुकड़े से कितने विषयों पर खोजबीन कर पाते हैं। बच्चों को फ़िल्में अच्छी लगती हैं, वे उसके पात्रों से सम्बन्ध बना पाते हैं। फ़िल्में बच्चों से बातचीत शुरू करने का यह एक अच्छा ज़रिया है। बच्चों में संवेदनशीलता विकसित करना, रूढ़िवादी धारणाएँ तोड़ना, बच्चे अपने जीवन से ज़्यादा जुड़ पाएँ और ज़िन्दगी जैसी है उसे वैसे देख पाएँ, यही इसका उद्देश्य है।

सवाल : **अपने कम्प्यूटर सिखवाने के प्रयोग के बारे में बताएँ?**

मिहिर : मेरी कोशिश है कि आजकल के बच्चे कम्प्यूटर के केवल उपभोक्ता न रहें, बल्कि नया सॉफ़्टवेयर बना पाएँ, जैसे– टिंकर प्रयोगशाला (एक तरह की कार्यशाला जहाँ अलग-अलग वस्तुएँ रहती हैं, और बच्चे अलग-अलग सामग्री का निर्माण कर पाते हैं)।

मैंने बच्चों के साथ कम्प्यूटर प्रोग्रामिंग को लेकर काम किया। मैंने उन्हें प्रोग्रामिंग भाषा सिखाई जिससे उनमें क्रमिक और तार्किक सोच, रचनात्मकता, भाषा का इस्तेमाल– इन सभी का विकास हुआ। जैसे, अगर वे एक कहानी सुनाना चाहते हैं जिसका एक पात्र है बिल्ली, उसका एनिमेशन बनाएँ। शुरू में बच्चों को मदद की ज़रूरत रहती है। उन्हें मैं छोटे-छोटे काम करने को कहता हूँ। जैसे– बिल्ली को दस क़दम आगे लेकर जाएँ। बच्चे एक दूसरे की मदद से प्रोग्रामिंग भाषा का उपयोग करना जल्दी ही सीख जाते हैं।

अलग-अलग और अजीब-सी वस्तुओं से भी मैं उनसे सर्किट बनाने की कोशिश करवाता हूँ। जैसे– केले के इस्तेमाल से सर्किट बनाना। हम केले को कम्प्यूटर के सर्किट से ऐसे जोड़ सकते हैं कि केला किसी ख़ास काम में आए, जैसे– कीबोर्ड में 'स्पेस बार' का। टाइप करते समय जब भी स्पेस बार दबाना हो तो उसकी बजाय सर्किट में केला पकड़ लें। या रोज़ाना के इस्तेमाल की वस्तुएँ– जैसे अगर नल ज़्यादा देर तक चालू है तो सर्किट में अलार्म बजेगा। ऐसा करने से अलग तरह की मानसिक क्षमताओं का विकास हो पाता है।

सवाल : आपने एक बार मुहावरे बनाने की बात की थी। उसके बारे में बताएँ ? इससे बच्चों के संज्ञान में क्या फ़र्क़ पड़ता है ?

मिहिर : इस तरह के काम हम भाषा की कक्षा में करते हैं। विविध विषयों की शब्दावली का सामान्य जीवन की घटनाओं में उपयोग करना। उदाहरण के लिए, हम बच्चों से प्यार भरी चिट्ठियाँ लिखवाते हैं। अगर आप डॉक्टर हो तो कैसा लिखोगे? वैज्ञानिक हो तो कैसा लिखोगे? इसी तरह से बच्चे 'चाय बनाने की पद्धति वैज्ञानिक तरीक़े से लिखो, एक कवि की तरह लिखो'। इस तरह की गतिविधियों से बच्चों के संज्ञान में क्या फ़र्क़ पड़ता है। इस क्षेत्र में मैं आगे खोजबीन करने की कोशिश कर रहा हूँ।

सवाल : अपने लाइब्रेरी प्रोजेक्ट के बारे में कुछ बताएँ।

मिहिर : मानसून के कारण लाइब्रेरी प्रोजेक्ट का काम बन्द था अब फिर से शुरू करेंगे। अब कहानियाँ सुनाने पर ज़्यादा ज़ोर देना है, ऐसा सोचा है। एक क्लब जैसा शुरू करने का इरादा है जिसमें भाषा कौशल, विचारशीलता और संवेदनशीलता पर फ़िल्म, नाटक, कहानी जैसे माध्यम से काम हो।

सभी चीज़ों– जिसमें शिक्षा शामिल है– के मूल में मानव चेतना है। काफ़ी विचारकों ने इसके बारे में बात भी की है।

सवाल : आपका अपना संश्लेषण क्या बना है इस विषय में ?

मिहिर : यह बहुत गहरा सवाल है। पर बेहद मूल और महत्त्वपूर्ण भी। मानव चेतना और मानव चेतना का शिक्षण यानी 'संवेदनशीलता' या फिर 'प्रज्ञा' का शिक्षण। जीवन बेहद गहरी तरह से चीज़ों और जीवों से जुड़ा हुआ है। आज स्कूलों में सिर्फ़ मस्तिष्क की क्षमताओं का विकास करने की दौड़ लगी है। सिर्फ़ मस्तिष्क की शक्तियों का विकास जीवन के एक ही टुकड़े को दिखाती है। विश्वभर में आज जो युद्ध और पर्यावरणीय संकट की समस्याएँ दिख रही हैं, उसके पीछे मुझे संवेदनशीलता का अभाव लगता है। अगर स्कूलों में जीवन को समग्र तरीक़े से देखने की तालीम दी जाए तो यह बहुत महत्त्वपूर्ण काम होगा।

सवाल : आपकी शिक्षा प्रणाली अलग है। इससे कहीं स्कूली व्यवस्था के साथ, या अन्य शिक्षकों के साथ कभी मतभेद नहीं होता ?

मिहिर : हाँ, कभी-कभी हमारे विचारों में टकराव होता है। लेकिन मेरी कोशिश रहती है कि बातचीत से मसले सुलझ जाएँ।

सवाल : बच्चों के साथ, बतौर शिक्षक आप किस तरह का सम्बन्ध बनाते हैं ?

मिहिर : बच्चों के साथ मेरा सम्बन्ध एक दोस्त जैसा है। बच्चों को कक्षा कक्ष में कोई भय नहीं होता, मुझे कभी-कभी बच्चों पर ग़ुस्सा आ जाता है। मैं कभी-कभी एक बच्चे की तुलना दूसरे बच्चे से कर देता हूँ, पर मेरी कोशिश यही रहती है कि स्पर्धा और तुलना न हो, इनाम और सज़ा भी नहीं हो।

सवाल : आपकी शिक्षा प्रणाली को लेकर बच्चों की क्या प्रतिक्रिया रहती है ?

मिहिर : मुझे लगता है कि बच्चे मेरे साथ रहना पसन्द करते हैं। कभी-कभी वे कहते हैं कि "आप हमसे ग़ुस्सा नहीं होते इसलिए हम ज़्यादा अच्छे-से नहीं सीखते हैं"। लेकिन हमारे बीच में जो दोस्ती है, मेरी समझ से उससे कुछ जादू-सा होता है और बच्चे सीखते हैं।

सवाल : बच्चों के साथ पढ़ाते समय अनुशासन के बारे में आपके क्या विचार हैं ?

मिहिर : यह तो काफ़ी मुश्किल सवाल है। इस मामले में मुझे तीन बातें अहम लगती हैं– पहली यह, कि एक शिक्षक का बच्चों के साथ दोस्ताना व्यवहार होना चाहिए; दूसरी, बच्चों के साथ काम करते समय सीखने के उद्देश्य सटीक होने चाहिए; और तीसरी, एक शिक्षक

को यह जानना ज़रूरी है कि बच्चे कैसे सीखते हैं। इसी हिसाब से गतिविधि की योजना बनानी चाहिए। कक्षा-कक्ष में शिक्षक दस मिनट से ज़्यादा बोले और बच्चे सिर्फ़ सुनें, ऐसा नहीं होना चाहिए।

सवाल : इन रास्तों को चुन लेने के पीछे आपकी क्या सोच है ?

मिहिर : मैं समझता हूँ कि बच्चे जिस माहौल में बड़े होते हैं उसे हम नहीं बदल सकते, लेकिन हम सीखने के मौक़े और अनुभव प्रदान कर सकते हैं। इससे बच्चों में ऐसी प्रवृत्ति पनप सकती है जहाँ वे ये फ़ैसला ले पाएँ कि उनके लिए ज़िन्दगी में क्या सही है और क्या ग़लत।

हमें बच्चों पर अपने विचार और मान्यताएँ थोपने नहीं चाहिए। बच्चे को अलग-अलग मान्यताओं और विचारों से अवगत करना चाहिए जिससे उन्हें मौक़े मिल पाएँ जहाँ वे अपनी स्वतंत्र समझ विकसित कर पाएँ। ऐसे माहौल में बच्चे संवेदनशील, सृजनशील व्यक्ति की तरह पनप सकते हैं। साथ ही उनमें सवाल पूछने की क्षमता, समाजशीलता और अपने मूल स्वभाव को जानने और समझने की क्षमताएँ भी विकसित होती हैं। बच्चों में ये सभी कौशल विकसित हों, इसके लिए पर्याप्त मौक़े उपलब्ध कराने के लिए हमें प्रयासरत रहना चाहिए। मैं यह भी समझता हूँ कि ऐसे माहौल में, बच्चे ये समझ पाते हैं कि असल में स्वतंत्रता के मायने क्या हैं। वे स्वतंत्रता की अपनी समझ के साथ प्रयोग करते रहते हैं, जो हमेशा विकसित होती रहती है।

मैंने शिक्षक बनने के लिए ये रास्ते चुने हैं, ऐसा मैं नहीं कह सकता। क्योंकि शिक्षक ही बनना है, ऐसा तय नहीं था। मैं अभी शिक्षक का काम कर रहा हूँ इसके पीछे तीन मुख्य कारण हैं। पहला, मेरी माँ बच्चों के साथ काम करती है इसीलिए मैंने बचपन से बच्चों के साथ थोड़ा-थोड़ा काम किया है और मुझे उसमें सबसे ज़्यादा आनन्द मिलता है; दूसरा, मुझे बच्चों के साथ काम करते वक़्त नाटक, कविता, विज्ञान के प्रयोग, फ़िल्म बनाना जैसे सृजनात्मक माध्यम में अन्वेषण करने का मौक़ा मिलता है जो मुझे बहुत भाता है; और तीसरा, कुछ बड़े सवाल भी हैं जो इन रास्तों के चुनाव के पीछे हैं। जैसे कि मानव विकास क्या है? मानव जीवन का लक्ष्य क्या है? मानव चेतना के स्तर क्या हैं जिसमें सबसे पहले मानव अपनी इन्द्रियों के लिए ही कार्य करता है। कुछ स्तरों में वो उससे आगे बढ़कर संवेदनशील बनता है– शायद आप मैस्लो की हाइरार्की से ज़्यादा सम्बन्ध बना पाएँ। मूल खोज मानव विकास और शिक्षण की भूमिका को समझने की है। क्या शिक्षण से चेतना का नया स्तर पाया जा सकता है? आज जो वातावरण बदलाव की बात हो रही है, या हिंसा, मानव अधिकार के हनन की बात ही हो, इन सभी प्रश्नों और मुद्दों के मूल में मानव चेतना है। मानव का मन है। क्या शिक्षा के द्वारा 'संवेदनशीलता' (यहाँ संवेदनशीलता का अर्थ कृष्णमूर्ति के विचारों के सन्दर्भ में समझता हूँ) को विकसित किया जा सकता है? अगर हाँ, तो किस तरह?

बेहतर शिक्षक बनने के लिए अभी तो मैं शिक्षा और बच्चों के बारे में लगातार पढ़ाई करता रहता हूँ। अभी जे कृष्णामूर्ति और विमला ताई के विचार पढ़ रहा हूँ। इसके साथ-साथ, मैं अपने शिक्षक मित्रों से बातचीत, अपने मेंटर से बातचीत और अपने कक्षा कार्य पर चिन्तन-मनन करता हूँ।

नोट : लेख के छपने के समय मिहिर एमआईटी मीडिया लैब के लाइफ़लॉन्ग किंडरगार्टेन शोध समूह के साथ शोध में जुड़े हैं। इस शोध के प्रश्न हैं : 'क्या व्हॉट्सएप जैसे माध्यम से विद्यार्थियों के लिए मेकिंग / टिंकरिंग की प्रक्रिया सुगम बनाई जा सकती है? क्या मेकिंग / टिंकरिंग की प्रक्रिया के लिखित प्रमाण के लिए कोई उपकरण बनाए जा सकते हैं?'

निधि गुलाटी पिछले दो दशक से शिक्षा एवं समाज के क्षेत्र में सक्रिय हैं । वर्तमान में इंस्टीट्यूट ऑफ़ होम इकनोमिक्स, दिल्ली विश्वविद्यालय में एलीमेंट्री एजुकेशन डिपार्टमेंट में बतौर प्राध्यापक कार्यरत हैं।

सम्पर्क : nidhi.a.gulati@gmail.com

जल, थल और मल
आदमज़ात को आईना दिखाती एक दिलचस्प किताब

अनिल सिंह

किसी किताब का आना एक सामान्य बात हो सकती है, लेकिन उसमें उठाए गए प्रश्न और जताई गई आशंकाएँ यदि पूरी मानव जाति को प्रभावित करने वाले हैं तो फिर यह एक अहम बात है। हमारी शिक्षा जो हमें आने वाले समय के लिए तैयार करती है, उसे ऐसी किताबों पर नज़र रखनी चाहिए और उसके मसलों को विमर्श का हिस्सा बनाना चाहिए। अनिल सिंह ने सोपान जोशी की किताब *जल थल मल* पर चर्चा करते हुए लेखकीय पहलू के साथ ही विषयवस्तु की गम्भीरता को भी रेखांकित किया है। सं.
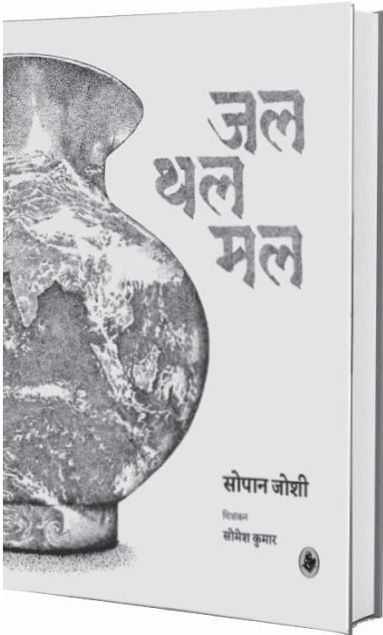
कोई बीस साल बाद एक बार फिर हमें झकझोरने और आईना दिखाने एक अच्छी किताब आई है। बीस साल बाद इसलिए कि 1993 में पहले अनुपम मिश्र की *आज भी खरे हैं तालाब* आयी और फिर 1995 में अनुपम मिश्र की ही *राजस्थान की रजत बूंदें* दोनों किताबें 'गाँधी शांति प्रतिष्ठान' के पर्यावरण कक्ष से प्रकाशित हुईं। दोनों ही किताबों ने जल प्रबन्धन के क्षेत्र में काम करने वालों सहित नीति निर्माताओं और आधुनिक विकास के हिमायतियों को हिलाकर रख दिया था। जल प्रबन्धन और विकास में समुदाय की आपसदारी का अद्‌भुत किस्सा बयाँ किया था इन किताबों ने। अब 2016 में आई *जल थल मल* शीर्षक की यह किताब सोपान जोशी के शोध और आलेख का परिणाम है। जल संग्रह और शुचिता पर काम करने वाली, बेंगलूरु की संस्था 'अर्घ्यम' ने वर्ष 2013 में इस किताब के लिए सोपान जोशी को शोधवृत्ति दी थी। यह किताब भी 'गाँधी शांति प्रतिष्ठान' से प्रकाशित हुई है। किताब की खास बात यह है कि वह *आज भी खरे हैं तालाब* और *राजस्थान की रजत बूँदे* से आगे की, एकदम नई और बहुत दूर तक की बात कहती है।

अब जब पर्यावरण संरक्षण, ग्लोबल वार्मिंग और जल संकट की बहसें अपने चरम पर हैं और राजनयिकों के दायरों से बाहर निकलकर ये आम आदमी के जीवन के प्रश्न बन गए हों, यह किताब एक सम्बल और भरोसा देती है। मैंने तो पूरी किताब एक बैठक में ख़त्म की। आप इसे बीच में छोड़ ही नहीं सकते।

जल और थल अर्थात पानी और मिट्‌टी की बातें तो पहले भी होती रही हैं लेकिन मल की बात इतने विस्तार से, इतने वैज्ञानिक तरीक़े से, और जल, थल के साथ गूँथते हुए इस किताब

के बहाने पहली बार हुई है। हमारे यहाँ मल की बात करने का चलन नहीं है। स्वच्छता पर, हाईजीन पर बात की जाती है, शौचालय पर बात की जाती है मल सिर्फ़ बहाया जाता है।

'केन्द्रीय ग्रामीण स्वच्छता कार्यक्रम' से 'टोटल सैनिटेशन कैंपेन' फिर 'निर्मल भारत अभियान' और अब मौजूदा सरकार के 'स्वच्छ भारत मिशन' का ध्येय भी सतही कचरा सफ़ाई और शौचालय के इस्तेमाल पर ज़ोर देना जान पड़ता है। तीन बिन्दुओं हाथ धोने, साफ़ पानी पीने और शौचालय के इस्तेमाल पर पूरा मिशन केन्द्रित है। शुचिता की बात इस मिशन में सिरे से ही ख़ारिज है, जिसकी बात सोपान जोशी अपनी इस किताब में बड़ी शिद्दत से करते हैं या यूँ कहें कि किताब का यह केन्द्रीय विचार ही बन जाता है।

किताब में बात शुरू होती है धरती पर जीवों की उत्पत्ति के इतिहास के साथ। कोई ढाई अरब साल पहले प्रागैतिहासिक जीवाणुओं के अपने ही उत्सर्जित मल, ऑक्सीजन से होने वाले विनाश को आधार बनाकर, यह किताब आधुनिक मानव सभ्यता के अपने ही मल-मूत्र से नष्ट हो जाने की तर्कपूर्ण आशंका को रेखांकित करती है।

कई बार किताब के शीर्षक या शुरुआत को देखकर यह लग सकता है कि पुस्तक में भटकाव तो निश्चित रुप से होगा। लेकिन जैसे ही आप रुचि लेना शुरू करते हैं। किताब आपको अपने साथ ले लेती है। लेखक के मन में यह बहुत साफ़ है कि कौन-कौन-सी बात करते हुए बात को किस बात तक लेकर जाना है। लेखक की तैयारी बहुत ही दुरुस्त है, विचार बहुत ही स्पष्ट और तरीक़ा एकदम सरल, सहज लेकिन संजीदा। लेखक ने शुरू में ही कह दिया है कि शौचालय का होना या न होना इस किताब के लिखने का उद्देश्य नहीं है, बल्कि पानी, मिट्टी और मल के त्रिआयामी विचारों को जोड़ने का पुल है यह।

लेखक सोपान जोशी लम्बे समय से अँग्रेज़ी में लिखते रहे हैं। लेकिन इस किताब के लिए उन्होंने सुन्दर और सहज हिन्दी का इस्तेमाल किया है। वे मूलतः पत्रकार हैं और शिक्षा, स्वास्थ्य, पर्यावरण और खेती पर लिखते हैं। सोपान जोशी को भाषा के संस्कार हिन्दुस्तान में अपने समय के ख्यातनाम पत्रकार और साहित्यकार पिता प्रभाष जोशी से मिले हैं। जिन्होंने आज़ाद हिंदुस्तान की पत्रकारिता में सम्पादक संस्था के नए और उच्च प्रतिमान स्थापित किए। आज का *जनसत्ता* एक समय उनके नाम से ही पहचाना गया।

सोपान अपनी बात शुरू करते हुए कहते हैं कि जब मनुष्य की आबादी कम थी तब मल-मूत्र चिन्ता का विषय नहीं था। आज हमारी आबादी साढ़े सात अरब होने को आई। इतने लोगों को पालने में तरह-तरह के संसाधन लगते हैं। तमाम संसाधनों का दोहन और उपभोग करते हुए अन्ततः साढ़े सात अरब लोग भोजन पाते हैं– कुछ घण्टों में यह भोजन मल-मूत्र बन जाता है। दुनिया भर में फ़्लश कमोड वाले शौचालयों में बेहिसाब पानी का इस्तेमाल कर सीवर लाइनों से बहाकर इस मल मूत्र को जल स्रोतों में उड़ेल देने की परिपाटी चल पड़ी है। ज़मीन से मिली पैदावार के रूप में ज़मीन के अनमोल उर्वरक ज़मीन में वापस न पहुँच कर हमारी बेवकूफ़ियों के चलते अन्ततः समुद्र में मिल रहे हैं, जहाँ से उनका वापस आना नामुमकिन है। मल-मूत्र के रूप में उर्वरकों के वापस ज़मीन में मिल जाने का शाश्वत चक्र टूट गया है और उसके भयंकर दुष्परिणाम सामने आने लगे हैं।

सोपान इस किताब में बताते हैं कि सभ्यता और विकास की पहचान बन गए फ़्लश कमोड वाले शौचालयों के चलन से जहाँ एक ओर बेहिसाब पीने लायक़ पानी मल को बहाने में ख़र्च हो रहा है, वहीं दूसरी ओर मैले पानी को नदी-तालाबों में छोड़ने से ये जल भण्डार भयंकर रूप से दूषित हो रहे हैं। मल के साथ उर्वरक तो पानी में जा ही रहे हैं, रोगाणुओं की उपस्थिति भी बढ़ रही है। मैले पानी का असर नदी-तालाबों पर साफ़ दिखता है, पर भूजल की ख़राब हो रही हालत नहीं दिखती। कई स्थानों पर भूजल में नाइट्रेट और बैक्टीरिया की मात्रा हद से अधिक पाई गई। तीन-चौथाई वे बैक्टीरिया पाए गए जो हमारे मल में पाए जाते हैं। हैज़ा, कालरा, पीलिया और पेचिश जैसी जानलेवा बीमारियों के महामारी बन जाने की आशंका निराधार नहीं है। भारत की स्थिति पर यूनिसेफ़ की 2013 की रपट, जल प्रदूषण को 'टाइम बम' बताती है।

वह समय दूर नहीं जब स्थितियाँ हमारे नियंत्रण से बाहर हो जाएँ, क्योंकि हम इस तरफ़ से आँखें मूँदे हुए हैं। मल-मूत्र के उर्वरक के रूप में इस्तेमाल की प्रणालियों को पुनर्जीवित करने की बजाय हम बनावटी उर्वरक के निर्माण की होड़ में लगे हैं और हवा से नाइट्रोजन खींच, यूरिया बनाकर वायुमण्डल का शाश्वत सन्तुलन बिगाड़ रहे हैं। एक प्रसिद्ध वैज्ञानिक ने इसे पृथ्वी के रासायनिक स्वभाव के साथ हो रहा एक ख़तरनाक प्रयोग बताया है। नाइट्रस ऑक्साइड जैसे ख़तरनाक प्रतिक्रियाशील तत्त्व के बनने की राह बना रहे हैं जो जलवायु परिवर्तन के लिए कार्बन डाइऑक्साइड से कई गुना ज़्यादा ज़िम्मेदार है।

एक और जिस भयानक सच की ओर सोपान इस किताब के माध्यम से संकेत करना चाहते हैं वह यह कि पानी के माध्यम से मल-मूत्र को एक साथ बहाए जाने से विभिन्न रोगाणुओं और एंटीबायोटिक दवाओं की, मैले पानी में अवांछित मुलाक़ात होती है। स्वभावतः रोगाणुओं में बहुत तेज़ी से प्रजनन होता है और वे बहुत ही कम समय में अपनी सन्तति में उन प्रतिरोध क्षमताओं को विकसित कर लेते हैं जो एंटीबायोटिक दवाओं से उन्हें बचाती हैं। इस तरह हम अनजाने ही रोगाणुओं को अपने ख़िलाफ़ तैयार कर रहे होते हैं।

मल-मूत्र के पानी में मिलने से उत्पन्न कीचड़ और गन्दगी का एक और काला सच है सेप्टिक टैंकों और सीवर लाइनों को साफ़ करने का दुस्साध्य काम। जिसके लिए समाज के एक तबक़े को अमानवीय परिस्थितियों का सामना करना पड़ता है। सफ़ाई कर्मचारी आन्दोलन के अनुसार कोई 12 लाख लोग इस मैला साफ़ करने और ढोने के काम में लगे हुए हैं।

प्रकृति का अपना चक्र था जिसमें ज़मीन का उर्वरक फ़सल के रूप में प्राणियों के शरीर में जाकर मल-मूत्र के रूप में फिर वापस ज़मीन में मिल जाता था। आज भी दुनिया में जहाँ कहीं भी मल को पानी में बहाए बिना और मूत्र को अलग रखते हुए खेती में उर्वरक के रूप में इस्तेमाल करने के प्रयोग हुए हैं उनके परिणाम हैरान कर देने वाले हैं ये सिर्फ़ कोई स्लोगन नहीं बल्कि शुचिता का विचार है, प्रकृति के साथ क़दमताल करने का मूल्य है। पर विकास की अन्धी दौड़ और उपभोक्तावादी प्रवृत्ति ने हमें दोहन का ऐसा मार्ग दिखाया है जिसपर चलकर आज हम एटम बम से भी ख़तरनाक हो चली स्थिति के मुहाने पर पहुँच गए हैं।

किताब में सोपान ने इन बातों के सन्दर्भ में नायाब जानकारियाँ जुटाई हैं। वे एक लेखक से ज़्यादा खोजी यात्री जान पड़ते हैं जो सुदूर देशों में घूम-घूम कर दुर्लभ जानकारियाँ एक जगह एकत्र करता है। भले ही ये जानकारियाँ उन्होंने किताब के केन्द्रीय विचार के इर्दगिर्द ताना-बाना बुनने के लिए जुटाई हैं, पर लेखकीय से ज़्यादा यह उनकी वैज्ञानिकता, खोजपरकता और दृष्टि की व्यापकता का गुण दिखाता है।

एक से एक रोचक किस्से इस किताब में भरे पड़े हैं जो मुद्दों को नए सिरे से सोचने-समझने की दृष्टि देते हैं। कैसे लन्दन में टेम्स नदी, मल-मूत्र का ऐसा भयानक भण्डार बन गई कि रानी विक्टोरिया को अपने महल में बन्द होकर रहना पड़ा, पार्लियामेंट का सत्र रद्द कर पार्लियामेंट भवन को अन्यत्र कहीं ले जाने की माँग उठ खड़ी हुई। पेरिस में ऊँची ऐड़ी या हाई हील की चप्पलों का चलन सड़क में पसरे मल-मूत्र वाले कीचड़ से बचने के लिए शुरू हुआ। लद्दाख के सूखे मल भण्डार 'छागरा' का उनकी खेती और सामाजिकता में क्या महत्त्व रहा। जापान ने कैसे मल को पानी में बहाए बिना उर्वरक के रूप में उसके इस्तेमाल की तकनीक और प्रणाली विकसित की। दुनिया के अलग-अलग हिस्सों में मल-मूत्र के विसर्जन, सीवर प्रणालियों के प्रयोग और उनका विकास, खेती में मित्र जीवाणुओं की खोज, रोगाणुओं की पहचान और उनसे निपटने के साधनों की खोज-पड़ताल, गन्दे पानी को साफ़ कर इस्तेमाल में लेने के सफल-असफल किस्से, जीवाणुओं की यात्रा और प्राणियों की परस्पर निर्भरता से अस्तित्व को बचाए रखने की कवायद जैसे तमाम मुद्दे और किस्से पुख़्ता तथ्यों और विचार के साथ रखे गए हैं।

जल, थल और मल

बात पुराने जमाने की एक विराट क्रांति की है। पर थोड़े ज्यादा पुराने जमाने की, जहां हमारे पंचांग और कैलेंडर तो क्या, हमारी कल्पना भी नहीं जाती है। कोई साढ़े-तीन अरब साल पहले की बात है यानी 3,50,00,00,000 साल। तब पृथ्वी पर केवल एक कोशिका वाले आदि-जीव पनपते थे, जिन्हें अपना भोजन पैदा करना नहीं आता था। धरती की ऊष्मा से रसायनों को खदका कर ये अपना पोषण करते थे। कुछ वैसे ही जैसे आज कुछ बैक्टीरिया दूध जमा कर दही बना लेते हैं या खमीर उठा कर डबलरोटी, सिरका या शराब तैयार कर लेते हैं। 'फरमेंटेशन' या किण्वन से।

उस सरल जीवन के लिए जो कुछ भी जरूरी था, वह या तो धरती से मिल जाता या हवा से। तभी जीवन की लीला में एक क्रांति आई, जिसके नायक थे साएनोबैक्टीरिया, यानी हरे-नीले रंग के बैक्टीरिया। इन्होंने अपनी रसोई खुद बनाना सीख लिया था, सूरज के प्रकाश और हवा से कार्बन की गैस खींच कर। पोषण की आत्मनिर्भरता की इस क्रांति से ये बैक्टीरिया न जाने कितने हजार एकड़ में फैल गए थे, विशाल सौर पटलों के रूप में। आज भी पेड़-पौधे ऐसे ही अपना भोजन बनाते हैं।

जीवन का, प्राण का ईंधन यही था। इस ईंधन को जलाने से कुछ धुआं सा भी निकलता था। एक विषैली गैस निकलती थी। हमारे पूर्वज बैक्टीरिया इस गैस को सांस के रास्ते बाहर निकाल देते थे, ठीक उस तरह जिस तरह हमारे फेफड़े कार्बन डाइऑक्साइड गैस छोड़ते हैं। :

किताब में इतनी सारी जानकारियों को रखते हुए सोपान रोचकता और जिज्ञासा बनाए रखते हैं। वे तथ्यों, तर्कों और चिन्तन को इस तरह समायोजित करते हैं कि वह हमें रोज़मर्रा की बात की तरह लगता है। दुनिया के किसी भी हिस्से का अनुभव अन्ततः मनुष्य का अनुभव है। पानी मिट्टी से हमारे शरीर के जुड़ाव का अनुभव है। हम उससे अपना जुड़ाव ढूँढ़ पाते हैं। उनकी शैली इतनी सहज, प्रभावी और रोचक है कि वह कहीं भी तथ्यों, आँकड़ों या विश्लेषण के भार से बोझिल नहीं होती। एक बात को पकड़कर हम उसमें समाधान की तलाश करते किताब को आगे पढ़ते जाते हैं और सोपान आख़िर में उस बात को समझने की एक अनूठी दृष्टि दे जाते हैं। इस प्रयास में सोपान कहीं रसायनशास्त्री, कहीं जीव वैज्ञानिक, कहीं इतिहासकार, कहीं आर्थिक नीति विश्लेषक, कहीं संस्कृतिकर्मी तो कहीं दार्शनिक हो जाते हैं। और हर भूमिका में वह अपनी पकड़ और पैठ बनाए रखते हैं।

सोपान विभिन्न शोध अध्ययनों और रपटों के हवाले से बताते हैं कि न तो निर्मल भारत अभियान के अन्तर्गत बनाए शौचालयों से संक्रमित बीमारियाँ रुकी हैं और न ही सीवर के मैले पानी को साफ़ करने के कारख़ानों को कोई सफलता मिली है। यह भी साफ़ है कि न तो हम पूरी आबादी को शौचालय दे सकते हैं और न इन शौचालयों में मल बहाने के लिए पानी उपलब्ध करा सकते हैं। नदी किनारे बसे

महानगर, पीने का पानी तो जहाँ कहीं से भी मिल रहा है, लूट रहे हैं पर नदियों में अपना मल-मूत्र ही डाल रहे हैं। हमारे शहर आज अपने जल स्रोत सहेजने की बजाए दूसरों का पानी लूटना चाहते हैं। जल प्रबन्धन की शाश्वत परम्परा वाला देश आज पानी लूटने वाला देश है। शहरी विकास की प्रणाली अब यही है। दूसरी तरफ़ बनावटी उर्वरक के उत्पादन और बेहिसाब इस्तेमाल से पारिस्थितिक तंत्र या इकोसिस्टम के लिए ख़तरा उत्पन्न हो गया है। भूजल को दूषित कर हमने अपनी मौत का सामान जुटा लिया है। पानी के माध्यम से चलकर, रोगाणुओं के हमारे शरीर तक पहुँचने के तमाम रास्ते खुल गए हैं। ज़मीन से गए प्राकृतिक उर्वरक वापस ज़मीन में नहीं आ पा रहे हैं और बनावटी उर्वरक ज़मीन को लगातार ज़हरीला बना रहे हैं।

एक अमेरीकी कृषि वैज्ञानिक फ़्रैंकलिन के हवाले से सोपान एक जगह कहते हैं कि मनुष्य बेशक़ीमती साधनों को कूड़ा बनाने वाला सबसे तेज़ प्राणी है। पता नहीं कितनी शताब्दियों की जीवन लीला से बने उर्वरक, सीवर प्रणाली के रास्ते समुद्र में बहाना ऐसी फिज़ूलख़र्ची है जिसकी क़ीमत दूसरे प्राणी तो चुकाएँगे ही, मनुष्य भी चुकाएगा। सोपान हर जगह हमें चेताते चलते हैं और रोज़मर्रा की अपनी बनी-बनाई परिपाटियों पर नई नज़र से सोचने का रास्ता देते जाते हैं।

किताब में कोई दस खण्ड हैं और हर खण्ड अपने-आप में एक मुकम्मल किताब है। इन खण्डों के शीर्षक अपनी कहानी ख़ुद बयान करते हैं। इनके शीर्षक भी कमाल के हैं,'जल, थल और मल', 'शौचालय से निकले कुछ विचार', 'सफाई के मन्दिर में बलि प्रथा', 'शरीर से नदी की दूरी', 'गोदी में खेलती हैं इसकी हज़ारों नालियाँ', 'मैले पानी का सुनहरा सच', 'पुतले हम माटी के', 'खाद्य सुरक्षा की थल सेना', 'मल का थल विसर्जन', और 'मलदर्शन'। 210 पृष्ठों की इस सुन्दर किताब में आख़िरी के 27 पृष्ठों पर बहुत ही विस्तृत और व्यवस्थित सन्दर्भ विवरण दिया गया है। आमतौर पर किताबों में यह कम ही देखने को मिलता है। सन्दर्भ के बहाने से दी गई अतिरिक्त जानकारियाँ भी कम रोचक नहीं हैं। पूरी किताब में सोमेश कुमार के पेंसिल स्ट्रोक शैली में बने काले सफ़ेद चित्र इस किताब को और भी जीवन्त और गम्भीर बनाते हैं। सोमेश कुमार सृष्टि स्कूल ऑफ आर्ट, डिज़ाइन एंड टेक्नलॉजी बैंगलूरू से ग्रेजुएट हैं और स्वतंत्र रूप से इलस्ट्रेशन के प्रोजेक्ट करते हैं।

अभी हाल ही में, 2018 में इस किताब को राजकमल प्रकाशन ने भी ज्यों-का-त्यों प्रकाशित किया है। इसमें भी 210 पृष्ठ ही हैं। पेपरबैक संस्करण में इसकी कीमत 269 रुपए और हार्ड बाउण्ड की 795 रुपए रखी है। किताब अमेजॉन से ऑनलाइन मँगाई जा सकती है। इसके अलावा अलग-अलग संस्थाओं ने विभिन्न शहरों में इसे अपनी तरह से उपलब्ध करने की कोशिशें भी की हैं।

किताब के अन्त में सोपान अपनी बात कहते हैं कि ऐसा मानना हमारी बहुत भारी भूल होगी कि आज पृथ्वी को बचाने की ज़रूरत है। इस ग्रह पर जीवन हमारे किए-धरे से नहीं आया है, न हमारे मिटाए यह मिट सकेगा। चाहे हम कितनी कोशिश कर लें, चाहे हम जाने-अनजाने कितनी ही जीव प्रजातियों का सफ़ाया कर दें। होगा तो यही कि जीवन का रूप बदल जाएगा। ऐसे जीव उभर आएँगे जिनके लिए हमारा मैला, हमारा कचरा ही संसाधन होंगे। ऐसे कीड़े होंगे जो हमारे बनाए विष से मरेंगे नहीं, ऐसे रोगाणु पनपेंगे जिनपर हमारी बनाई कोई दवा काम

नहीं करेगी। तो मसला पृथ्वी को बचाने का नहीं है। मनुष्य की ज़ात को ख़ुद अपने-आप को बचाना है, अपने-आप ही से।

यह किताब विद्यार्थियों, शिक्षकों, समाजसेवियों और पर्यावरण कार्यकर्ताओं सहित सभी को पढ़नी चाहिए। शोधार्थियों के लिए तो जबर्दस्त सन्दर्भ ग्रन्थ बनेगा यह। बल्कि मेरा तो सुझाव है कि इसके कुछ अध्यायों को पाठ्यपुस्तकों में शामिल भी किया जाना चाहिए। कुछ अध्याय माध्यमिक कक्षाओं की जीव विज्ञान में, कुछ रसायनशास्त्र, कुछ पर्यावरण अध्ययन, कुछ इतिहास, कुछ अर्थशास्त्र, तो कुछ भूगोल की किताबों में लिया जाना शिक्षा में समग्रता की दृष्टि से अत्यन्त उपयोगी और महत्त्वपूर्ण होगा। इस किताब का कोई भी हिस्सा भाषा के लिए तो हर तरह से शैक्षिक महत्त्व का है। एक-एक अध्याय जानकारियों के, विमर्श के कई-कई सिरे खोलता है। विषयों के बीच अन्तर्सम्बन्ध का बहुत ही जीवन्त और व्यावहारिक उदाहरण है यह किताब।

अनिल सिंह विगत बीस वर्षों से विभिन्न स्वैच्छिक संस्थाओं के साथ जुड़कर शिक्षा और स्वास्थ्य का काम करते रहे हैं। जनसंचार में स्नातक हैं और पत्र-पत्रिकाओं के लिए लिखते हैं। वर्तमान में आनन्द निकेतन डेमोक्रेटिक स्कूल भोपाल से जुड़कर वैकल्पिक शिक्षा के मॉडल पर काम कर रहे हैं।
सम्पर्क : bihuanandanil@gmail.com

परीक्षा और शिक्षा : एक विचार अनेक पहलू

पत्रिका की संवाद श्रृंखला की यह चौथी परिचर्चा है और विषय है– 'परीक्षा और शिक्षा : एक विचार अनेक पहलू'। यह संवाद भोपाल, मध्यप्रदेश में आयोजित किया गया। संवाद में शासकीय उत्कृष्ट विद्यालय भोपाल के प्राचार्य सुधाकर पाराशर, राज्य शैक्षिक अनुसन्धान एवं प्रशिक्षण परिषद, राज्य शिक्षा केन्द्र, भोपाल के व्याख्याता राजेन्द्र असाटी, एकलव्य फ़ाउण्डेशन की सीनियर फ़ेलो रश्मि पालीवाल, शासकीय ज्ञानोदय विद्यालय होशंगाबाद के शिक्षक मुकेश मालवीय एवं माखनलाल चतुर्वेदी राष्ट्रीय पत्रकारिता एवं संचार विश्वविद्यालय भोपाल के रजिस्ट्रार दीपेन्द्र बघेल ने भागीदारी की। संवाद का संचालन रश्मि पालीवाल ने किया है। अनिल सिंह ने संवाद का समन्वय किया है।

परिचर्चा में 'परीक्षा और शिक्षा' विषय के विविध पहलुओं पर बातचीत हुई। विषयवस्तु विस्तृत होने की वजह से इसे दो भागों में प्रकाशित किया गया है। पिछले चौथे अंक में प्रकाशित पहले भाग में परीक्षा को लेकर प्रतिभागियों के निजी अनुभव, और समय के साथ इस पद्धति में आए बदलाव से जुड़े नज़रिये, समाज में बच्चों के प्रति दृष्टिकोण, सरकारी तंत्र में शिक्षकों की स्थिति व सोच और परीक्षा का स्वरूप व वैकल्पिक परिकल्पनाओं से जुड़ी बातचीत की गई थी।

परिचर्चा के भाग-दो में 'परीक्षा और शिक्षा' के मसलों मुख्यतः ओपन बुक परीक्षा, पास-फ़ेल की नीति और प्रयोगधर्मी स्कूलों से जुड़ी बातचीत की गई है।

रश्मि पालीवाल : परीक्षा पद्धति के मुद्दे पर जब हम बात कर रहे हैं तो क्या सुझाव आए हैं, वो देख लेते हैं– एक तो परीक्षा लेने के तरीक़े में सहजता की बात हमने की। दूसरी तरफ़ भाषा की बात हुई कि प्रश्नों की भाषा कैसी हो। यह भी चर्चा हुई कि परीक्षा कोई साल में एक बार होने वाली चीज़ नहीं। यदि लगातार ऐसी पढ़ाई होती रहेगी तो परीक्षा लेना कुछ अलग नहीं लगेगा और सहजता बनी रहेगी। किन चीज़ों का आकलन किया जाना चाहिए, इसपर विस्तार से बात हुई क्योंकि नए जमाने में कौशल और पैमाने बदल गए हैं। इन बदलते हुए कौशलों को हम किस तरह के मूल्य दें और कैसे आकलन की कोशिश करें। इसके अलावा भी क्या कुछ सुझाव हमारे मन में हैं? क्योंकि इवैल्युएशन पर एनसीएफ़ का जो पोज़ीशन पेपर है उसमें लिखा है कि ओपन बुक एक्ज़ाम का काफ़ी महत्त्व है। वो उपयोगी प्रणाली हो सकती है। हमें धीरे-धीरे आगे चलकर उसे अपनाने की कोशिश करनी चाहिए। मैंने पिछले 10 सालों में इस तरफ़ कोई क़दम बढ़ते नहीं देखा। इसके बारे में क्या आप लोग कुछ विचार करना चाहेंगे? क्योंकि ये जो रटना है, किताब से जुड़ जाना है, बँध जाना है, ये सारी बातें इसलिए होती हैं क्योंकि हम क्लोज़ बुक ले रहे हैं। क्या हम इस समस्या के सन्दर्भ में ओपन बुक को एक उदाहरण के रूप में विचारणीय पाते हैं?

राजेंद्र : मैं ओपन बुक से जुड़ा अपना एक अनुभव बताना चाहूँगा। एक-दो स्कूलों में हमने इसको किया पर वहाँ हमने इसको परीक्षा के लिए नहीं किया। मैं एक स्कूल में गया और वहाँ जाकर मैंने बच्चों से कुछ प्रश्न किए। टीचर ने कहा, इन चार बच्चों से मत पूछना ये आते ही नहीं हैं। बाक़ी से पूछना। मैंने कहा, नहीं, आज सब पढ़ेंगे। मैंने 20 प्रश्नों का एक प्रश्नपत्र सामने रख दिया और कहा कि सारे बच्चे पुस्तक खोलें और लिखें। सारे बच्चों ने उत्तर लिखना शुरू किया। उन चार ने भी लिखना शुरू किया। बाक़ी बच्चों ने लगभग 2 घण्टों में लौटा दिया, पर उन चार बच्चों ने थोड़ा ज़्यादा टाइम लिया। उन्होंने भी लिखकर वापस किया। तब उन चार बच्चों से पूछा कि आप लेट क्यों हुए? यदि पढ़ते तो थोड़ा जल्दी कर लेते। तो आज से पढ़ना है। उन्हें समझ में आया कि किताब पढ़ने से जवाब मिल सकते हैं तो वो पढ़ने की तरफ़ प्रेरित हुए। हमने उनको ओपन बुक से ऐसे प्रेरित किया। अब वो पढ़ रहे हैं तो परीक्षा की धारा में शामिल हो गए हैं। परीक्षा अच्छी है या बुरी, उधर मैं नहीं जा रहा। न ये कह रहा हूँ कि वो ओपन बुक से होनी चाहिए। मैं इस बात से काफ़ी हद तक असहमत हूँ कि परीक्षा ओपन बुक से होनी चाहिए, क्योंकि सारे बच्चों ने अलग-अलग तरीक़े से सालभर तैयारियाँ की हैं। कहीं-न-कहीं उन्हें हमें कहीं के लिए चुनना है। और चुनने की जब बात आती है तो हमें कोई-न-कोई स्केल वहाँ पर रखना पड़ता है। हम भले ही कुछ भी कह लें, पर हमें चुनना पड़ता है। ये एक व्यावहारिक बात है। तो अब हम कैसे चुनेंगे? हमें कोई-न-कोई तरीक़ा अपनाना पड़ता है। हम उसे कोई भी नाम दे दें।

“ओपन बुक से जो सम्भावनाएँ मुझे दिखती हैं उसमें पढ़ने का कौशल और समझने का कौशल बढ़ सकता है। ये दोनों ही कौशल महत्त्वपूर्ण हैं, पर सवाल करने का कौशल कैसे बढ़ेगा ये मुझे आशंका है।”

रश्मि पालीवाल : तो आप ये मानते हैं कि ओपन बुक से करेंगे तो सब बच्चे अच्छा कर लेंगे?

राजेंद्र : नहीं, ऐसी बात बिलकुल नहीं है। यदि उन्होंने सालभर अच्छे-से नहीं पढ़ा है तो वो ओपन बुक से भी अच्छा नहीं कर पाएँगे। क्योंकि उन्हें टाइम लिमिट दी गई है तो ओपन बुक से भी वो जल्दी उत्तर नहीं ढूँढ़ पाएँगे। और उस दिन पढ़ाना हमारा उद्देश्य नहीं है। मेरा ऐसा मानना है कि जो बच्चे कक्षा में नहीं आते हैं वो ओपन बुक का महत्त्व समझकर पढ़ने की तरफ़ अग्रसर हो जाएँगे। अगर शुरू से ही हम ओपन बुक का इस्तेमाल करें तो वो छूटे हुए बच्चे भी मुख्य धारा में सभी बच्चों के साथ शामिल हो जाएँगे।

रश्मि पालीवाल : सिर्फ़ छूटें नहीं, उतनी ही बात नहीं है। जब आप ओपन बुक के विचार को शुरू से यूज़ करेंगे तो वो बच्चे न सिर्फ़ कंटेंट समझेंगे, बल्कि किताब को इस्तेमाल करने का तरीक़ा भी सीखेंगे कि इस प्रश्न का उत्तर कहाँ मिलना चाहिए, मुझे उपशीर्षक कैसे देखने हैं। मुझे पढ़कर अपनी समझ बनाकर कौन-से उत्तर को लिखना है। तो वो कॉम्प्रिहेंशन और असेसमेंट भी सीखते जाएँगे। वो भी एक अच्छी और ज़रूरी स्किल है अपने-आप में।

राजेंद्र: तो वही मैं कह रहा हूँ कि यदि हम इस तरह से इसे यूज़ करें सालभर, तो फिर ओपन बुक टेस्ट करने में कोई प्रॉब्लम नहीं आएगी।

रश्मि पालीवाल : वो बात तो किसी भी प्रणाली के लिए ठीक है कि उसका प्रचलन शुरू से बने। जैसे– आप रीजनिंग के बारे में कह रहे थे या कोई भी अन्य चीज़, अगर शुरू से नहीं की तो अचानक परीक्षा में करने से वह तो ठीक नहीं होगा।

दीपेंद्र : ओपन बुक से जो सम्भावनाएँ मुझे दिखती हैं उसमें पढ़ने का कौशल और समझने का कौशल बढ़ सकता है। ये दोनों ही कौशल महत्त्वपूर्ण हैं, पर सवाल करने का कौशल कैसे बढ़ेगा ये मुझे आशंका है।

चित्र : पारुल बत्रा दुग्गल

पास–फ़ेल की नीति

रश्मि पालीवाल : इतनी देर हमने परीक्षा पर बात कर ली। लेकिन अभी तक हमने पास-फ़ेल पर कोई बात नहीं की, कहीं भी उसका ज़िक्र नहीं आया जबकि सारा जनमानस उस पर टिका हुआ है और राजनीतिक ताक़तें भी पास-फ़ेल को लेकर अपने-आप को काफ़ी कमिटेड फ़ील करती हैं।

अब फिर पाँचवीं और आठवीं की परीक्षाएँ लेने और पास-फ़ेल करने की बात हो रही है। लेकिन जैसी कि हमने पहले बात की, परीक्षा तो हम ले ही सकते थे। अपनी शिक्षण प्रक्रिया को बेहतर करने के लिए, अपने आत्मचिन्तन के लिए परीक्षा तो ली ही जा सकती है। आरटीई ने भी परीक्षा पर कोई रोक नहीं लगाई थी। परीक्षा कई उद्देश्य पूरे करती है। सिर्फ़ पास-फ़ेल करना ही एकमात्र उद्देश्य नहीं है। एक मानक बनाकर कि एक साल में ये आ जाना चाहिए, अगर नहीं आया तो फिर तुम रुको, और एक साल में दुबारा से करना। इस मान्यता पर सवाल उठे थे कि ये मानक कैसे तय हुआ कि मुझे इतना आ जाना चाहिए? कैसे पता लगा लिया कि मुझे नहीं आया? और अगर रुक जाऊँगा मैं एक साल पीछे, तो क्या अब आ जाएगा मुझे, जो मुझे अभी तक नहीं आया था? अगर नहीं आया तो क्या मैं रुका ही रहूँगा? मेरा क्या होगा? क्या मैं कहीं का नहीं रहूँगा? मेरी क्या हैसियत आप समाज के सामने रख रहे हो?

ये जो प्रश्न परीक्षा से जुड़े हैं क्या इनपर आप अपने विचार रखना चाहेंगे?

मुकेश : एक तो मैं इस तरह से देखता हूँ कि पूरे तंत्र में परीक्षा को ऐसा माना जाता है कि वह पढ़ने के लिए प्रेरित करती है। परीक्षा का भय पढ़ने की तरफ़ ले जाता है। और जैसे ही 4-5 साल परीक्षा से मुक्त हुए तो स्कूलों से ये फ़ीडबैक आया कि जो पढ़ने का भय था वो स्कूलों से ख़त्म हुआ। पढ़ने के प्रति जो बाध्यता थी वो परीक्षा के लिए थी। अब परीक्षा ही नहीं हो रही है तो स्कूलों में पढ़ाई भी नहीं हो रही है। शॉर्टकट यही है कि अब स्कूलों में पढ़ाई कैसे हो तो उसके लिए परीक्षा फिर से ली जाए। ये धारणा एक सामान्य समझ को प्रतिबिम्बित करती है।

पर जो काम करने वाले स्कूल थे वो पहले भी काम कर रहे थे। परीक्षा ख़त्म हो जाने से या परीक्षा की बाध्यता हो जाने से उन स्कूलों में कोई फ़र्क़ नहीं पड़ा।

पाराशर : मैं आरटीई का प्रबल समर्थक हूँ। और जो भी बात आप कह रही हैं उसके पक्ष में हूँ। आरटीई में कहीं भी परीक्षा पर रोक नहीं थी। केवल बात इतनी-सी थी कि पास-फ़ेल न करें। वो बड़ी आदर्श स्थिति भी थी। क्योंकि कई सारी स्टडीज़ में आया भी है कि बच्चे को जब आप फ़ेल करके पीछे करते हैं और वो एज़ एप्रोप्रिएट क्लास में नहीं बैठता है तो वो पिछड़ता जाता है। तो तरीक़े हमको खोजने होंगे। लेकिन ये तो बिलकुल ठीक नहीं है कि फ़ेल करके उनको पीछे करते जाएँ। उसके तरीक़े बहुत सारे हो

सकते हैं, ब्रिज कोर्स, रेमेडियल क्लासेस, वग़ैरह।

रश्मि पालीवाल : पर आप फ़ेल कैसे कर रहे हैं? यदि आप 50 आयाम पर बच्चे को देख रहे हैं और दो में वो कमज़ोर है, 30 आयामों में मध्यम है लेकिन बाक़ी में वो बहुत अच्छा है, तो फ़ेल की बात कैसे?

पाराशर : बिलकुल ठीक कह रही हैं। जैसे विधान सभा की कान्स्टिट्यूएंसी के लिए आपको 320 लोगों को चुनना है, वहाँ एक तय नम्बर है कि इतना ही होना चाहिए। अब 10 हज़ार वोट पाने वाला जीत गया। वो पाँच साल विधायक रहने वाला है। तो जहाँ हमारे पास ऐसा सिस्टम

“परीक्षा भी एक तरह से गणितीय ढंग से मैनेज करने की कोशिश करने का दावा करती है कि अंकों के आधार पर हम आपकी क्षमता आँक लेंगे। तो ये अंकों के आधार पर क्षमता के आकलन का दावा ही मुझे बुनियादी रूप से ग़लत लगता है। ”

है कि हमें उतनी ही सीट या नम्बर चाहिए, वहाँ तो ये चीज़ें लागू होती हैं लेकिन शिक्षा में तो ऐसा नहीं है कि हमें इतने ही बच्चे पास करने हैं, तो फिर क्यों फ़ेल का तमगा लगा रहे हैं।

जहाँ पर कुछ लोगों में से हमें कोई दो लोग चाहिए तो आपको नियम बनाना पड़ेगा। जैसा नौकरियों में होता है। लेकिन एजुकेशन सिस्टम में आप पर ऐसी कोई बाध्यता नहीं है कि हमको इतने बच्चों को ही प्रमोट करना है तो फिर हम उन्हें क्यों रोक रहे हैं।

दीपेंद्र : योग्यता को लेकर मुझे ये कहना था कि अभी आपने जो नौकरी का उदाहरण दिया या अगर चयन करना हो तो कुछ-न-कुछ मापदण्ड बनाने पड़ेंगे। तो मुझे ये लगता है कि शिक्षा का बुनियादी आधार ही ये है कि योग्यता बहुत ही भिन्न-भिन्न प्रकार की है। एक मानदण्ड नहीं हो सकता है। शिक्षा ही मसलन ऐसा क्षेत्र है जिसमें बहुत ज़रूरी है कि हर व्यक्ति की यूनीकनेस को महत्त्व दिया जाए, उसकी विशेषता को महत्त्व दिया जाए। योग्यता अलग-अलग प्रकार की हो सकती है। इस बात को बुनियादी मान्यता दी जाए। ये जो संसार है जिसमें नौकरी वग़ैरह होती है, उसमें योग्यता के सिंग्युलर स्टैंडर्ड हो सकते हैं लेकिन शिक्षा में नहीं।

रश्मि पालीवाल : ख़ासकर कंपल्सरी एजुकेशन वाले स्टेज पर तो बिलकुल नहीं। जैसे मैंने आगे चलकर तय किया कि डॉक्टर बनना है, तो ठीक है ये मेरा निर्णय है। मैं इसकी तैयारी करूँगी, इसकी परीक्षा भी दूँगी और उसमें पास-फ़ेल का सामना भी करूँगी। लेकिन जहाँ पर कंपल्सरी एजुकेशन में हूँ वहाँ आप कैसे कह सकते हैं कि मैं फ़ेल हो गई हूँ। मैं तो जीती-जागती व्यक्ति हूँ, जीवित हूँ। मैं फ़ेल कैसे हो सकती हूँ।

दीपेंद्र : मुझे इसकी बुनियादी दिक़्क़त गणित में लगती है। मैथेमेटिक्स है वो प्रबन्धन का काम करता है, व्यापक स्तर पर पॉपुलेशन को मैनेज करने का काम करता है। परीक्षा भी एक तरह से गणितीय ढंग से मैनेज करने की कोशिश करने का दावा करती है कि अंकों के आधार पर हम आपकी क्षमता आँक लेंगे। तो ये अंकों के आधार पर क्षमता के आकलन का दावा ही मुझे बुनियादी रूप से ग़लत लगता है। यह पूरी-की-पूरी गणितीय प्रणाली है। एक संख्यात्मक प्रणाली है। एक संख्यात्मक प्रणाली के आधार पर आप किसी व्यक्ति का मूल्यांकन कैसे कर सकते हैं, जिसमें फ़ीडबैक की सम्भावना ही नहीं है।

रश्मि पालीवाल : ग्रेड हो सकते हैं। नम्बर या परसेंटेज न होकर ग्रेड में अगर बात हो तो?

दीपेंद्र : ग्रेड भी एक तरह का क्लास है। आपने चार वर्ग बना लिए हैं। वो भी एक तरह

की मैथेमेटिक्स है कि आप उसमें चार वर्गों में सारे बच्चों को फ्रेम कर रहे हैं। ये फ्रेमीकरण भी मुझे अनुपयुक्त लगता है। व्यवस्था तो गणित के आधार पर बड़ी पॉपुलेशन को मैनेज कर सकती है। बड़ी जनसंख्या को कम्प्यूटर में फ़ीड कर सकती है। डेटा फ़ीड कर सकती है। हर व्यक्ति उसके लिए डेटा है। हर व्यक्ति की क्षमता उसके लिए डेटा ही तो है। इस डेटा की समस्या से हम कैसे जूझेंगे, इसपर हमें सोचना पड़ेगा। इससे तभी निपट सकते हैं जब हम योग्यता और कौशल को हासिल करने की प्रक्रिया की गहराई और उसके विस्तार में जाएँगे। दरअसल तब ये सिर्फ़ डेटा नहीं बल्कि क्वालिटेटिव डेटा होंगे।

राजेंद्र : मेरा ये अनुभव है कि हम शिक्षकों को ये समझाने में नाकामयाब रहे हैं कि बच्चों को सिखाना ज़रूरी है, परीक्षा नहीं। कोई चीज़ वो कर पाएँ ये ज़रूरी है, अंक ले आएँ ये ज़रूरी नहीं। जैसे मैं किसी पेरेंट को पूछूँ कि ये मशीन चलाना आता है तुम्हारे बच्चे को, ये ज़रूरी है या ये ज़रूरी है कि बच्चा ये लिख दे कि मशीन कैसे चलाते हैं? तो अभिभावक भी यही कहेंगे कि मशीन चलाना आना ज़्यादा ज़रूरी है। तो अब हम बच्चे को मशीन चलाना सिखाएँ।

कहा गया कि टीचर्स पढ़ा नहीं रहे हैं और टीचर्स जिस परम्परा में हैं वहाँ पर पढ़ना मतलब परीक्षा होता है। पढ़ना मतलब अगली कक्षा में जाना होता है– हम इस रूढ़ि से आज़ाद नहीं हुए। परीक्षा के ख़त्म होने से हमारी पढ़ाई में डाइल्यूशन आ गया। कुछ ऐसा मुझे लगता है। पहले शिक्षक को भरोसे में लेना ज़रूरी था। पेरेंट्स को भरोसे में लेना ज़रूरी था।

रश्मि पालीवाल : तो ये सांस्कृतिक दृष्टि की बात है ना। जब एक सांस्कृतिक मूल्य का प्रसार

चित्र : पारूल बत्रा दुग्गल

होता है और उसको एक सुदृढ़ नेतृत्व नहीं मिलता है तो क्रियान्वयन में, लोगों के समझने में एक हॉच-पॉच रहता है। उसपर टाइम लगता है। ये सोचना कि लोग दो साल में समझ लेंगे ये बहुत ग़लत बात है। सांस्कृतिक बदलाव पीढ़ियों में होते हैं। पीढ़ियों तक उस दिशा में नेतृत्व करने और कमिटमेंट बनाए रखने की ज़रूरत होती है। वहाँ जब डाँवाडोल होंगे तो फिर क्या उम्मीद की जा सकती है।

दीपेंद्र : मेरा ये मानना है कि अगर आप आरटीई में शिक्षा का अधिकार दे रहे हैं, तो अधिकार की सिर्फ़ मूल भावना को देखिए। वैसे हमारे समाज में बच्चों के अधिकार को स्वीकार्यता नहीं है। हम मानते ही नहीं कि बच्चों के कुछ अधिकार होते हैं। अगर बच्चों का कुछ अधिकार है तो फिर आपको उसे रोकने का अधिकार नहीं। ये अधिकार की मूल भावना की ही अवमानना है।

"सवाल ये है कि सीसीटीवी से देखोगे तो टीचर और छात्र का स्वाभाविक रिश्ता बिगड़ेगा और सीखने-सिखाने की प्रक्रिया भी प्रभावित होगी। तो ये डर और दबाव बनाने का पूरा जो कर्म है उसके लिए कितने तौर-तरीक़े अपनाए जा रहे हैं।"

रश्मि पालीवाल : बिलकुल। एक तरह से ये कॉन्ट्राडिक्शन इन टर्म्स है। एक तरफ़ हम राइट कह रहे हैं और फिर डिटेन्शन कर रहे हैं।

मुकेश : मैं इन सारी बातों से पूरी तरह सहमत हूँ। सहमत होते हुए कह रहा हूँ और वो ठीक से दर्ज हो जाएँ इसलिए फिर से रिपीट कर रहा हूँ। ऐसी परीक्षा जो शिक्षक के कंट्रोल में नहीं है, जिसमें बच्चे की कॉपियाँ कहीं बाहर जाँची जा रही हैं और जिसपर ये तय हो रहा है कि तुमने ठीक से काम किया कि नहीं– ये सब उस शिक्षक को अपने काम की तरफ़ गम्भीर होने के लिए, ज़िम्मेदार होने के लिए एक भय पैदा करता है। हमारे सरकारी सिस्टम में काम करने के लिए भय एक अनिवार्य तत्त्व है। ये मैं दर्ज कराना चाहता हूँ।

हालाँकि भय एक नकारात्मक और ग़लत तत्त्व है काम कराने के लिए। पर ऐसे बृहद सरकारी सिस्टम में थोड़ा-सा डर के माध्यम से अपने काम के प्रति ज़िम्मेदारी पैदा करने के लिए अगर ये निर्णय है तो मैं इसे उचित मानता हूँ।

गुरबचन : ये जो आप कह रहे हैं टीचर में डर से प्रेरणा आने की बात तो आप देखिए कि टीचर के साथ निगरानी का शिकंजा किस तरह बढ़ता जाएगा। उसे एक एप दिया जाएगा जिसमें उसको उपस्थिति क्लिक करके दर्ज करना है, उसको कहीं दूर बैठकर कोई मॉनीटर करेगा। और तो और, अब तो सीसीटीवी क़ैमरे लगाने की सिफ़ारिश की जा रही है। स्कूलों में आपको देखा जाएगा। आप बच्चों के साथ किस तरह काम कर रहे हैं। सवाल ये है कि सीसीटीवी से देखोगे तो टीचर और छात्र का स्वाभाविक रिश्ता बिगड़ेगा और सीखने-सिखाने की प्रक्रिया भी प्रभावित होगी। ये डर और दबाव बनाने का पूरा जो कर्म है उसके लिए कितने तौर-तरीक़े अपनाए जा रहे हैं।

रश्मि पालीवाल : हो सकता है एक लिमिटेड उद्‌देश्य के लिए ही सही, उस तरह की स्ट्रिक्ट मॉनीटरिंग और उस तरह से शासन की गम्भीरता का एक अहसास शायद शिक्षकों को उनके काम पर वापस पहुँचा दे। क्योंकि अभी तक एक उलटा सन्देश था कि सब चलता है। प्रायवेट में बच्चे जा रहे हैं तो अच्छा है। हमें तो प्रायवेट ही सब करना है। यदि इसके उलट ये सन्देश जाता है कि सरकारी तंत्र को लेकर हम गम्भीर हैं, इसको चलाना है। जिस भी कारण से ये हो रहा हो, तो ठीक है एक लिमिटेड अर्थ में, हम उसका एक उपयोग देखते हैं।

दीपेंद्र : मेरा आपसे एक काउंटर सवाल है। मसलन आपने ये माना कि लिबरल मॉडल विफल हो रहा है, हो सकता है, होगा। है न! इसके बरक्स अथॉरिटेरियन मॉडल या अधिकारवादी जो मॉडल है वो सफल हो सकता है क्योंकि सरकार तो एकदम तटस्थ हो गई है। अथॉरिटेरियन मॉडल के जो उपकरण हैं उसमें नियंत्रण, रिपोर्ट्स, समीक्षा वग़ैरह महत्त्वपूर्ण हैं। इनके बूते ये मॉडल कैसे सफल होगा।

मुकेश : दीपेंद्रजी, मैं ये भी कह रहा हूँ कि मैं लिबरल मॉडल को वैचारिक रूप से बहुत बेहतर मानता हूँ। और अगर आप लम्बे समय के लिए कोई परिवर्तन चाहते हैं तो वो इसी मॉडल से आएगा। परन्तु मैं ये देखता हूँ कि इसका समुचित फैलाव कितना मुश्किल है।

रश्मि पालीवाल : अथॉरिटी बारीक़ियों की अनदेखी करती है, बस रूल फ़ॉलो करती है। ऐसा मॉडल कितनी दूर तक चल पाएगा उसके बारे में हम सबको पुनर्परीक्षण करना चाहिए।

अनिल : और दूसरा मैं इस बात में जोड़ना चाहूँगा कि इसकी वजह से डर, दबाव, तनाव बच्चों में परकुलेट होता है तो ये तो बहुत मुश्किल खड़ी करेगा।

गुरबचन : मुख्य सवाल ये है कि अगर बच्चे को फ़ेल करते हैं, या बच्चे को रोकते हैं, तो इसके दूरगामी परिणामों को देखना होगा। फ़ेल होते कौन हैं? या कक्षा में रोके कौन जाते हैं? ये बच्चे वही हैं जो पहली पीढ़ी के लिखने-पढ़ने वाले हैं। ये वंचित समाज के हैं, ग़रीब वर्ग से हैं। उनके लिए पाँचवीं और आठवीं का सर्टिफ़िकेट बहुत अहमियत रखता है। ख़ासतौर से उन बच्चों के लिए जो जैसे-तैसे स्कूलों तक पहुँच पाए हैं। उसे तो मार्कशीट के बिना 2000 रुपए की नौकरी भी हाथ से छूटती नज़र आती है।

इस पूरे सामाजिक सन्दर्भ में हमें इस बात को देखने की ज़रूरत है। और ये मानना कि इन नीति-निर्धारकों को ये छोटी-सी बात समझ में नहीं आती, ये बिलकुल झूठ है। ये पूरी तैयारी के साथ है कि क्यों रोकना ज़रूरी है। रोकना इसलिए ज़रूरी है कि बड़ी कक्षाओं में ज़्यादा बच्चे न आएँ। नौकरियों के अवसर कहाँ और किनके लिए पैदा करना है, वहाँ किए जाएँगे, जिनके लिए नहीं करना, उनको बाहर किया जाएगा, वो कहीं भी जाएँ। इसके जो सामाजिक निहितार्थ हैं, वो बहुत गहरे हैं और उसपर कभी बातचीत नहीं होती।

रश्मि पालीवाल : जो बच्चे पीछे रुक जाते हैं या जो आठवीं में दूसरी कक्षा का पाठ भी नहीं पढ़ पा रहे होते, उसका कारण क्या रहा होगा वो कभी हमने रिकग्नाइज़ किया कि नहीं? जो बच्चा 8 साल रहा स्कूल में और पढ़ना नहीं सीख पाया, हो सकता है उसकी कोई विशेष आवश्यकता होगी। कोई ज़रूरी नहीं कि शिक्षा का स्तर या कोई शिक्षक नहीं पढ़ा रहा,

> **"अथॉरिटी बारीक़ियों की अनदेखी करती है, बस रूल फ़ॉलो करती है। ऐसा मॉडल कितनी दूर तक चल पाएगा उसके बारे में हम सबको पुनर्परीक्षण करना चाहिए।"**

ये चीज़ें ही ज़िम्मेदार हों। उसको कोई विशेष ज़रूरत होगी, ये हमने ध्यान ही नहीं दिया। ये भी हो सकता है कि लर्निंग स्पीड (लर्निंग पेस) अलग हो। ये भी हो सकता है कि कुछ बच्चे तीसरी कक्षा में पढ़ना सीख पाते हैं। कुछ चौथी में ही सीखेंगे, क्योंकि आपकी टीचिंग का लेवल भी तो अलग ही है। तो बच्चे बेचारे कहीं शिक्षक से, कहीं परिवार से, थोड़ा किताब से लिया या थोड़ा साथियों की मदद से, किसी तरह हाथ-पैर मारकर अपना रास्ता बना रहे हैं। उनको रास्ता तो बनाने दो। वो उस लेवल का पढ़ना दूसरी में,

तीसरी में नहीं सीख पाया। पाँचवीं में सीख लिया। उसने अपना रास्ता तो बनाया। आप कौन-सा उसको सुनहरा मार्ग बिछाकर दे रहे हो कि वो चल नहीं पाया।

सुधाकर पाराशर : आपने एकदम असल बात की मैडम। आप देखो यहाँ डीपीएस में कौन-से बच्चे पढ़ रहे हैं। यहाँ जो बच्चे पढ़ रहे हैं उनके पालक इतने समर्थ हैं कि उनकी 90 परसेंट की तैयारी है। इतना होमवर्क है। वो इतनी मेहनत कर रहे हैं बच्चों पर। उनके बच्चों के पास इतनी ई-बुक्स हैं, इतनी किताबें हैं, इतना मटेरियल, इतनी सुविधाएँ हैं कि उनके पीछे लगे हुए हैं पूरी तरह से।

"सरकारी सिस्टम में लोगों का भरोसा पैदा करना होगा। समुदाय की दृष्टि से भी हमें सोचना होगा। बच्चों के साथ पालकों के बारे में भी एक सरोकारी दृष्टि बनानी होगी। स्कूल में बच्चों का हौसला और आत्मविश्वास बढ़ाना होगा। प्राइवेट स्कूलों से भी हमें काफ़ी सीखने की ज़रूरत है।"

दूसरी तरफ़ हमारा सरकारी स्कूल का बच्चा है कि उसका जो कुछ भी होना है वो स्कूल में होना है। उसका पिता तो शाम को मज़दूरी करके आ रहा है, ठेला लगाकर आ रहा है। हमारे स्कूलों में जिस तरह के बच्चे आ रहे हैं उन्हें घर में, सोसायटी में, कहीं सपोर्ट नहीं मिल रहा। उनके लिए पढ़ाई-लिखाई होमवर्क एक तरह का बोझ है। तो ये चीज़ भी हमको महसूस करनी होगी कि हमारे जो बच्चे हैं उनकी आर्थिक-सामाजिक स्थितियाँ जो हैं वो बिलकुल अलग हैं। और उस बच्चे पर अधिक मेहनत की, अधिक ध्यान देने की ज़रूरत है। वो कमज़ोर नहीं है, सिर्फ़ संसाधनों की कमी है।

और ऐसा भी नहीं है कि बहुत निराश हुआ जाए। इतनी सारी चर्चा के बाद मैं कहना चाहूँगा कि हमारे सरकारी सिस्टम में भी ऐसे बहुत सारे टीचर हैं जो दूरदराज़ के इलाक़ों में भी लगे हुए हैं अपनी भूमिका के निर्वाह में। उनका दायित्व बोध काफ़ी ऊँचा है। और उसका परिणाम भी आ रहा है। तो ये कह देना कि पूरा तंत्र ऐसा है ठीक नहीं।

रश्मि पालीवाल : सही बात है। ये जो भिन्नता है न, इसका भी हमें एक गणितीय मॉडल बनाना चाहिए। क्योंकि हम लोगों में भी तो भिन्नता है। शिक्षकों में भी है।

पाराशर : लेकिन मैं हमेशा से इस पक्ष में हूँ कि नवाचार अपनाए जाने चाहिए। जैसे– प्रायवेट स्कूल में बच्चा रिपोर्ट कार्ड लेकर जाता है तो छोटी-छोटी बातें इंगित कर दी जाती हैं कि आपका बच्चा इन-इन चीज़ों में अच्छा है। हम भी ऐसा करें न। हम फ़ेल की मार्कशीट देने की बजाय उसकी चार अच्छी बातें लिखें। हम भी लिखें कि आपका बच्चा मेहनती है, आपका बच्चा स्पोर्ट्स में आगे है, आदि। हम तारीफ़ करने में कंजूसी क्यों करते हैं?

रश्मि पालीवाल : क्योंकि आपकी भी तारीफ़ किसी ने नहीं की।

पाराशर : इस सिस्टम में लोगों का भरोसा पैदा करना होगा। समुदाय की दृष्टि से भी हमें सोचना होगा। बच्चों के साथ पालकों के बारे में भी एक सरोकारी दृष्टि बनानी होगी। स्कूल में बच्चों का हौसला और आत्मविश्वास बढ़ाना होगा। प्राइवेट स्कूलों से भी हमें काफ़ी सीखने की ज़रूरत है।

प्रयोगधर्मी स्कूल

गुरबचन : कुछ प्रयोगधर्मी स्कूलों के बारे में बात कर लें।

रश्मि पालीवाल : वैसे तो वो बातें आ चुकी हैं चर्चा में। फिर भी कुछ बातें बताना चाहूँगी। जैसे हम पढ़ते हैं समरहिल्स स्कूल के बारे में

इंग्लैंड में या अमरीका में सडबरी वैली स्कूल है। वो अपने बच्चों की परीक्षा नहीं लेते। वो ये बात कहते हैं कि हँसी-मज़ाक के लिए, मज़े करने के लिए, किसी ने कुछ काम दे दिया कि चलो ये पहेली हल करते हैं या प्रश्नपत्र बना दिया मज़े का कि चलो सब लोग करते हैं। तो इस तरह सीखना पढ़ना भी मज़े के लिए करते हैं। पास-फ़ेल करने के लिए नहीं, या कितना जानते हो, देखने के लिए नहीं। वो फ़न वर्कशीट होती है। उनकी ये सोच है कि हर व्यक्ति को पता होता है कि उसे क्या नहीं आता।

अगर मैं अच्छी हैंडराइटिंग लिखना सीख रही हूँ या चाय अच्छी बनाना सीख रही हूँ या गणित कर रही हूँ, जो भी कुछ करना चाहती हूँ उसमें स्वमूल्यांकन व्यक्ति करता रहता है। उसको पता होता है। उसे किसी को बताने की ज़रूरत नहीं होती कि तुम इतना हो, इतना नहीं हो। यदि व्यक्ति कुछ करना चाहता है तो वो उस विधा के लोगों को देखता रहता है, सीखता रहता है। क्योंकि वो जानना चाहता है कि इसे कैसे करना है, मुझसे तो बना नहीं, मेरा तो इतना अच्छा बना नहीं था। तो व्यक्ति ख़ुद अपना आकलन करके उस विधा को सीखने के लिए तत्पर रहता है। इसमें किसी बाहरी व्यक्ति को बताने की ज़रूरत नहीं पड़ती। एक तो ये बात मुझे काफ़ी अच्छी लगी थी। ये बात वाक़ई में सही है। और दूसरी बात ये कि जब कोई व्यक्ति ये तय करता है कि मुझे फलानी परीक्षा अपने लिए पास करनी है, मैं वो परीक्षा पास करके डॉक्टर बनना चाहता हूँ, मैं इंजीनियर या टीचर बनना चाहता हूँ, तो उसके लिए तैयारी करता है, परीक्षा देता है और पास-फ़ेल का सामना भी करता है। जब बच्चा तय करता है कि मुझे 12वीं की परीक्षा देनी है या कोई-सी भी परीक्षा देनी है तब ये उसका अपना निर्णय होता है। ख़ूब खेल लिया, ख़ूब मस्ती कर ली। क्लास में आया, नहीं आया। जितनी मर्ज़ी समझा, नहीं समझा।

जब उसने ख़ुद ने तय किया कि मुझे करना है तब वो उसे वाक़ई गम्भीरता से लेता है। तब वो यह पूछता है कि मुझे ये बता दो, मुझसे ये नहीं हो रहा। तो जब वो ख़ुद पूछने आता है तब ही वे उसको बताते हैं। जब तक बच्चा ख़ुद पूछने नहीं आए वे उसे कुछ नहीं सिखाते। जब वो ख़ुद सीखना चाहता है अपने निर्णय से, तब सिखाते हैं। तब वो किसी भी तरह से सीख जाता है।

गुरबचन : एक प्रयोगधर्मी स्कूल से जुड़े होने के नाते अनिल के भी अनुभव हैं, तो उन्हें भी साझा करें।

अनिल : दीपेंद्रजी की एक बात एक्सटेंड करूँगा कि जो आपने कहा कि व्यवस्था में गणितीय प्रबन्धन पर ज़्यादा ज़ोर रहा है इसलिए योग्यता और कौशल जैसी बात भी आँकड़ों में फँसी रहती है। उसके बारे में मैं अपने अनुभव से यही कहना चाहूँगा कि गुणवत्ता आकलन की प्रणाली थोड़ी श्रमसाध्य और जटिल है। वह एक ख़ास तरह की दृष्टि की माँग करती है, जिसमें मानवीय पहलुओं को देखने की उदारता और खुलापन होना बहुत ज़रूरी है। इस प्रणाली की

चित्र : पारूल बत्रा दुग्गल

अपनी सीमाएँ हो सकती हैं। मैं एक ऐसे विद्यालय से जुड़ा हूँ जो बच्चों के सीखने के सन्दर्भ में इस तरह की वैकल्पिक व्यवस्थाओं पर भरोसा रखता है। हम भी इस तरह की औपचारिक परीक्षाओं पर विश्वास नहीं रखते और बच्चों के सीखने के क्रम में ही उसे देखते हैं। हर रोज़ की कक्षा प्रक्रियाओं में अवलोकन के साथ ही हम सालभर में एक बार एनुअल असेसमेंट करते हैं जिसमें सभी टीचर्स मिलकर उस बच्चे के बारे में अपनी समझ और राय बनाते हैं। उसमें बच्चे की भी भागीदारी होती है और पालकों की भी, और बच्चों के सहपाठियों की उसके बारे में क्या राय है यह भी शामिल होता है। इसी तरह सालभर बच्चे ने जो काम किया उसके फ़ीडबैक,

"गुणवत्ता आकलन की प्रणाली थोड़ी श्रमसाध्य और जटिल है। वह एक ख़ास तरह की दृष्टि की माँग करती है, जिसमें मानवीय पहलुओं को देखने की उदारता और खुलापन होना बहुत ज़रूरी है। इस प्रणाली की अपनी सीमाएँ हो सकती हैं।"

वर्कशीट, उसके रजिस्टर हैं, टीचर्स डायरी हैं। ऐसा सब मिलाकर 4-6 पेज का राइटअप होता है वो हम बनाते हैं। इसमें अंकों का, ग्रेड का, कोई ज़िक्र नहीं होता है। बच्चे की तफ़सील होती है। विषयगत अकादमिक दक्षताओं का भी ब्योरा उसके कक्षा के अवलोकनों और उदाहरणों के साथ रहता है।

इससे जुड़ा एक अनुभव साझा करना चाहूँगा जो आज की इस चर्चा के सन्दर्भ में काफ़ी प्रासंगिक है। स्कूल के एक अभिभावक किसी वजह से भोपाल से बाहर ट्रांसफ़र हुए। उन्हें अपनी बच्ची को दूसरी जगह एडमिशन कराना था। हमने उन्हें टीसी और एक 6 पेज का राइटअप बच्ची के बारे में दे रखा था। चौथी कक्षा में उस बच्ची का दाख़िला होना था। उस विद्यालय में उन्होंने हमारी दी हुई टीसी और ये 6 पन्नों का राइटअप दे दिया। इसपर क्लर्क ने कहा, ये तो ठीक है, वो कहाँ है। तो पेरेंट्स ने पूछा, वो मतलब? क्लर्क ने जवाब दिया, मार्कशीट। पेरेंट्स ने बताया, वो तो स्कूल देता ही नहीं। जो है बस यही है। क्लर्क ने फिर पूछा, ये स्कूल ही है न जहाँ से आई है बच्ची? पेरेंट्स ने कहा, हाँ स्कूल है, उसका डाइस कोड है और वो शासन द्वारा मान्यताप्राप्त है।

बस वो परीक्षाएँ नहीं लेते, और अब तो राइट टू एजुकेशन के तहत परीक्षाएँ ली भी नहीं जातीं। तो फिर क्लर्क का जवाब था, परीक्षाएँ ली नहीं जातीं पर वो काग़ज़ तो बनाया जाता है न! पेरेंट्स ने कहा, जो भी है ये 6 पेज का राइटअप ही है। इसको पढ़ लीजिए। उन्होंने कहा, हमें इसमें से कुछ समझ नहीं आएगा। अब पेरेंट्स ने फिर पूछा कि हमारी बच्ची को एडमिशन तो मिल जाएगा कि नहीं? क्लर्क ने कहा, प्रिंसिपल मैम बोल दें तो कुछ बात बन सकती है। उन्होंने कहा, ठीक है मैं जाता हूँ। वो 6 पेज का राइटअप और टीसी लेकर गए। प्रिंसिपल मैम से बात की। पेरेंट्स अवेयर थे, आरटीई के बारे में बात कर रहे थे और असेसमेंट के मसले को समझते थे।

उन्होंने कहा, आप कहें तो मैं विद्यालय के संचालक से बात करा सकता हूँ। मैडम ने कहा, इसकी कोई ज़रूरत नहीं। उन्होंने क्लेरिकल स्टॉफ़ को फ़ोन किया कि एडमिशन की प्रोसेस कर लो। इस तरह बच्ची का कक्षा 4 में एडमिशन हो गया। पेरेंट्स ने क्लर्क से पूछा, अब एडमिशन कैसे हो गया, मुझे ज़रा बताइए। क्लर्क ने कहा, हमारे कम्प्यूटर में जो प्रोग्राम है वो इस तरह का डेटा लेता है कि हिन्दी में इतने नम्बर, गणित में इतने और साइंस में इतने। फिर उसके मुताबिक़ एडमिशन होता है। तो पेरेंट्स ने जो बात कही, दरअसल वह इस किस्से का केन्द्रीय भाव है। उन्होंने कहा, तो भैया अपने कम्प्यूटर के सॉफ्टवेयर में आप बदलाव करो ताकि वो 6 पन्नों

के इस राइटअप को समझ सके, न कि आप पलटकर हमपर दबाव बनाओ कि वो काग़ज़ लाओ जिसपर अंक लिखे रहते हैं।

ये एक अनुभव सिखाता है कि ये जो जड़ता है इसमें बदलाव की ज़रूरत है। ये जो पुराने प्रोग्राम और सॉफ़्टवेयर हैं। उनमें बदलाव की ज़रूरत है। इन 6 पन्नों की ग्राह्यता कैसे बने कि ये जो लिखा है ये एक बच्ची के बारे में ही है, जो बताता है कि कितने आयामों में क्या-क्या है वो बच्ची।

क़ानून और शासन की मंशा के अनुसार ही, जैसा भी चला हो, 5-6 साल तक सीसीई के अभ्यास ने भी कहीं कुछ असर नहीं डाला। वो इसीलिए कि इसका क्रियान्वयन करने वाले लोगों का नया परसेप्शन ही नहीं बना। उसमें कई स्तर पर नाकामियाँ गिनाई जा सकती हैं। उसमें बदलाव की ज़रूरत है। परीक्षा लेना और पास-फ़ेल में बच्चों को बाँटना प्रतिगामी क़दम होगा।

गुरबचन : इसी तरह का अनुभव हमारा भी रहा। टीकमगढ़ में एक स्कूल हम चलाते थे और प्रोजेक्ट के तहत वैकल्पिक पाठ्यक्रम बनाने की प्रक्रियाओं पर हमने काम किया। उसी स्कूल में मेरी बेटी भी पढ़ती थी। 3 साल तक पढ़ा उसने। उसके बाद 6वीं में एक स्कूल में एडमिशन के लिए गए। उसका रिपोर्ट कार्ड भी डिस्क्रिप्टिव था। स्कूल उसे एक्सेप्ट करने को तैयार नहीं था। लेकिन चूँकि मैं शिक्षा विभाग में था तो जानता था ये कैसे सम्भव होगा। तब तक जन शिक्षा अधिनियम भी नहीं बना था। मध्यप्रदेश शासन की एक शिक्षा संहिता थी। उसमें एक प्रावधान था कि किसी भी बच्चे का टेस्ट लेकर उसकी योग्यता का आकलन किया जा सकता है और उसे यथोचित कक्षा में एडमिशन दिया जा सकता है। एडीआईएस ने लिखकर भी दिया और स्कूल प्रिंसिपल ने जस्टीफ़ाई भी किया। बेटी का एडमिशन हो गया। हालाँकि बाद में इस विषय पर पेपरबाज़ी भी हुई। क्योंकि मेरे कारण यह एक व्यक्ति विशेष की बच्ची का मामला बन गया था। बाद में प्रोफ़ेसर कृष्ण कुमार ने इस विषय पर एक आलेख लिखा कि चूँकि आप बच्ची को नहीं जानते और बच्ची अपना तर्क आपके सामने रख नहीं सकती, इसलिए आपको उसके बारे में ऐसा लिखने का कोई नैतिक अधिकार नहीं है। बाद में अख़बार को एक्सक्यूज़ करना पड़ा।

इस अनुभव से मैं यह सवाल कर रहा हूँ कि जो बच्चे इस सिस्टम में परीक्षा पास किए बग़ैर रहते हैं उन्हें मुश्किल कितनी होती है। नौकरीभर की बात नहीं है लेकिन अपनी शिक्षा को जारी रखने में भी कितनी बाधा होती है। ये परीक्षा का जो ढाँचा है उसकी ये जो जड़ता है उसमें बच्चे की अपनी योग्यता का, उनकी समझ का, कोई स्थान बनता ही नहीं।

राजेंद्र : इन सब बातों के लिए मुझे शिक्षक को मॉनीटरिंग सपोर्ट प्रोवाइड करने का रोल काफ़ी महत्त्वपूर्ण समझ में आता है। वह काफ़ी विस्तृत विषय भी है। मुझे लगता है कि अगला संवाद हमें मॉनीटरिंग विषय पर रखना चाहिए।

रश्मि पालीवाल : बिलकुल ठीक। तो पाठशाला के छठवें अंक के लिए थोड़ी और तैयारी के साथ हम मॉनीटरिंग सपोर्ट विषय पर संवाद आयोजित करेंगे।

आप सभी इस संवाद में उपस्थित हुए और अपने अनुभवों व सुझावों के साथ इस चर्चा में सक्रिय रूप से भागीदार बने, इसके लिए आप सबका आभार।

मुद्रक तथा प्रकाशक मनोज पी. द्वारा अज़ीम प्रेमजी फ़ाउण्डेशन फॉर डेवलपमेंट के लिए अज़ीम प्रेमजी फ़ाउण्डेशन, प्लॉट नं. 163-164, त्रिलंगा कोऑपरेटिव सोसाइटी, E-8 एक्सटेंशन, त्रिलंगा भोपाल, मध्यप्रदेश 462039 की ओर से प्रकाशित एवं गणेश ग्राफ़िक्स, 26-बी, देशबंधु परिसर, प्रेस काम्प्लेक्स, एम.पी. नगर, जोन-1 भोपाल द्वारा मुद्रित।

सम्पादक : गुरबचन सिंह

लेखकों से आग्रह

पाठकों से प्राप्त सुझाव के आधार पर **पाठशाला भीतर और बाहर** में छपने वाले लेखों की प्रकृति, स्वरूप और प्रस्तुति में कुछ परिवर्तन किए गए हैं, जिसकी झलक आपको इस पाँचवें अंक में दिखाई देगी।

प्रयास है कि पत्रिका ज़मीनी स्तर पर काम कर रहे साथियों के लिए अपने अनुभवों को दर्ज करने, उनको विस्तार देने और गहराई देने के लिए एक उपयुक्त मंच बने और साथ ही इन अनुभवों को साझा करने का भी। इसी तरह यह ज़मीनी स्तर पर होने वाले कार्य की दृष्टि से अर्थपूर्ण व कार्य में मददगार भी बन पाएगी। और व्यापक पाठक वर्ग सहित आप व हमारे शिक्षक साथी इसे पढ़ेंगे और इसका अधिकाधिक उपयोग कर पाएँगे।

आपसे आग्रह है कि आप अनुभवों को दर्ज कर पत्रिका में छपने के लिए भेजें। आप स्कूल में, कक्षा में, और अलग–अलग मंचों पर शिक्षकों के साथ किए गए काम के अनुभवों को भेज सकते हैं। आपके साथी शिक्षक भी उनके द्वारा किए गए काम के अनुभवों को भेज सकते हैं। आपके द्वारा भेजे गए लेख बच्चों के सीखने–सिखाने से सम्बन्धित हो सकते हैं, जैसे– विभिन्न विषयों या प्रकरणों को सीखने–सिखाने के अनुभव या फिर शिक्षकों के साथ अन्तःक्रिया के नए तौर–तरीक़ों पर केन्द्रित या फिर किसी महत्त्वपूर्ण या उल्लेखनीय संवाद के बारे में, जो औरों के लिए भी उपयोगी हो। इनके और बहुत–से उदाहरण हो सकते हैं। जैसे– बच्चों के साथ काम के सन्दर्भ में गणित, विज्ञान, भाषा, सामाजिक अध्ययन, आदि किसी भी विषय की किसी भी कक्षा के अनुभव। ये अनुभव किसी अवधारणा को बच्चों को सिखाने, उन्हें गतिविधियाँ कराने के या उनके साथ खेल खेलने आदि के हो सकते हैं।

आप, स्कूल और शिक्षकों के साथ (इसमें एंगेज्ड शिक्षक भी शामिल हैं) जो काम कर रहे हैं, उससे सम्बन्धित लेख भी साझा कर सकते हैं। इसमें, आपने जो किया उसके साथ–साथ आप अपने काम में किस ख़ास तरह से आगे बढ़े और वह आपने क्या सोचकर किया, इस विचार को शामिल कर सकते हैं। इस दौरान आप अपने काम के सकारात्मक नतीजे व उसमें दिखने वाले गैप भी बताएँ, जैसे– बाल सभा या बाल शोध मेलों में कुछ परिवर्तन किया, तो वह क्या सोचकर किया, उसका क्या नतीजा निकला, और बेहतर करने के लिए उसमें और क्या–क्या किया जा सकता है, आदि? इसी तरह कक्षा में बच्चों को चित्रकला करवाने, कहानी सुनाने या किसी नाटक में भाग लिया, तो उसके बारे में क्या अनुभव रहे। गणित का एक उदाहरण, शिक्षण सामग्री जैसे– गिनमाला का प्रयोग करके गिनती सिखाने का हो सकता है। इसी तरह वालंटरी टीचर फ़ोरम, टीचर लर्निंग सेंटर, समर–विंटर कैम्प के शैक्षिक प्रयासों आदि के बारे में भी मननशील लेख हो सकते हैं। ये लेख पाठक को यह समझने में मदद करें कि उनमें क्या प्रयास था, किस परिस्थिति में उसे सोचा गया, कैसे किया गया, क्या हो पाया, क्या कमी रही, क्या सीखा और आगे के लिए आपके समूह के लिए और पाठकों के लिए उसके क्या निहितार्थ हैं?

इसी तरह, शिक्षकों के साथ प्रशिक्षण के दौरान, वालंटरी टीचर फ़ोरम में कार्य के दौरान, टीचर लर्निंग सेंटर पर हो रहे प्रयासों में, या उनके साथ सहकारी शिक्षण के दौरान हुए अनुभवों को मननशील व समालोचनात्मक दृष्टिकोण से लिखकर भेजें तो अच्छा रहेगा। इसी तरह बच्चों अथवा शिक्षकों के साथ कक्षा के बाहर हुए सार्थक अनुभव भी आप मननशील ढंग से लिख सकते हैं।

लेखों के विषय और विषयवस्तु ऐसी हो जिससे फ़ील्ड में कार्य करने वाले साथियों और शिक्षकों को वैचारिक मदद मिलती हो और उनका दक्षता संवर्धन होता हो। लेख ऐसे हों जो स्कूल व कक्षा में पढ़ने–पढ़ाने के तरीक़ों व अन्य गतिविधियों में शिक्षकों व फ़ाउण्डेशन के साथियों द्वारा इस्तेमाल किए जा सकें। साथ ही ऐसे लेख भी हों जिनसे विविध विषयों और उनमें बुनी अवधारणाओं को पढ़ाने में मदद मिले। लेखों की भाषा और विषय सामग्री अधिक–से–अधिक सदस्यों को आसानी से समझ में आने वाली हो।

यदि लेख में दिए गए किसी विवरण, चर्चा अथवा व्याख्या से सम्बन्धित किसी तर्क अथवा प्रमाण के लिए किसी पुस्तक, जरनल या वेब स्रोत से कोई सामग्री ली गई हो तो उसका उल्लेख ज़रूर करें। आप जो भी सन्दर्भ सामग्री लें उससे लेख को अर्थपूर्ण, तार्किक और गुणवत्तापूर्ण बनाने में मदद मिले।

इसके अलावा आप शिक्षा से सम्बन्धित किसी पुस्तक, फ़िल्म अथवा अन्य शिक्षण सामग्री के बारे में भी लिख सकते हैं, मसलन उनका परिचय, समीक्षा अथवा विश्लेषण।

आशा करते हैं कि आपके यह लेखकीय अनुभव ठोस एवं यथार्थपरक होंगे। उसमें कुछ ऐसा ज़रूर हो जो पाठक को रुचिपूर्ण व सार्थक लगे।

लेखकों को अपने लेखन के सन्दर्भ में किसी भी तरह के सहयोग की आवश्यकता महसूस होती है तो वे इसके लिए सम्पर्क कर सकते हैं। उन्हें सम्पादक मण्डल के सदस्यों द्वारा आवश्यक सहयोग और सुझाव दिए जाएँगे। उम्मीद है कि **पाठशाला भीतर और बाहर** का यह पाँचवाँ अंक आपको अच्छा लगेगा और आप इसके अगले अंकों के लिए ज़रूर लिखेंगे। पत्रिका के इस अंक पर आपकी टिप्पणियों व सुझावों का हमें हमेशा की तरह इन्तज़ार रहेगा।

अज़ीम प्रेमजी विश्वविद्यालय की अन्य पत्रिकाएँ